वर्ष-१ अंक-१

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालयवर्धा के शिक्षा विद्यापीठ की

(त्रैमासिक-पत्रिका)

संवर्धन

ज्ञान शांति मैत्री

शिक्षा विद्यापीठ, शिक्षा विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

संरक्षक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

परामर्श
प्रो. चित्तरंजन मिश्र
प्रतिकुलपति
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

प्रधान संपादक
प्रो. अरबिंद कुमार झा
अधिष्ठाता, शिक्षा विद्यापीठ

सहप्रधान संपादक
डॉ. गोपाल कृष्ण ठाकुर

संपादक
श्री ऋषभ कुमार मिश्र,सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग
डॉ अरुण प्रताप सिंह, सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग

संपादन सहयोग
डॉ अमित कुमार त्रिपाठी
श्री धर्मेंद्र नारायणराव शंभरकर
आवरण एवं साज-सज्जा
श्री उमा शंकर, सहायक

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशक
कुलसचिव
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

नोट- प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संयोजक-संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

परिप्रेक्ष्य	शीर्षक	
गिरीश्वर मिश्र	भारत में शिक्षा की चुनौतियां और अपेक्षाएं	4
आलेख		
डॉ संदीप कुमार	नैतिक एवं संवेगात्मक विकास में मीडिया की भूमिका की समीक्षा	6
डॉ अरुण प्रताप सिंह	शिक्षा और सभ्यता के सरोकारों की प्रश्नाकुलता	10
सुश्री संध्या	कठोपनिषद् के संदर्भमें गुरू-शिष्य सम्बन्ध	12
सुप्रिया पाठक	शिक्षा एवं जेंडर केप्रश्न	15
नेहा गोस्वामी	हिन्दी महिला लेखिकाओं की रचनाओं में स्त्री विमर्श एवं उसके शैक्षिक निहितार्थ	18
पंकज उपाध्याय	मुख्य धारा बनाम देश ज्ञान व्यवस्था :शब्द : सत्ता और स्वाधीनता	20
चित्रलेखा अंशु	मिथिला में लोकगीत प्रभावित वर्चस्व	26
मेघा	लैंगिक भेद की मानसिकता तथा शिक्षा	30
धर्मेंद्र नारायणराव शंभरकर	युवकों के जीवन में भारतीय संस्कृति और भारतीय मूल्यों का महत्व	35
पुस्तकसमीक्षा		
कृति श्रीवास्तव	शिक्षा – संघर्ष की ऐतिहासिक भूमि	42
साक्षात्कार		
ऋषभ कुमार मिश्र	प्रस्तावित नई शिक्षा नीति से उच्चशिक्षा की अपेक्षाएं	46
रिपोर्टिंग		
संदीप कुमार, गोविंद, विलास चुनारकर	राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफल आयोजन	48

संपादकीय

संपादकीय

संवर्धन का प्रवेशांक प्रस्तुत करते हुए हर्ष की अनुभूति हो रही है। यद्यपि यह एक लघु प्रयास है लेकिन रचनात्मक अभिव्यक्ति और शैक्षिक लेखन को बढ़ावा देने की संभावना लिए हुए है। यह ई-पत्रिका शिक्षा के सुधी अध्येताओं, पाठकों और अभ्यासकर्ताओं के लिए एक मंच है जिसके द्वारा वे अपने सैद्धान्तिक समझ और क्षेत्र अनुभव से शैक्षिक लेखन के क्षेत्र को संमृद्ध कर सकेगें। अनुभवों को साझा करना एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्वान्तःसुखाय होने के साथ पर-अनुभव संवर्धन का भी एक माध्यम है। हमारा साध्य इस साधन या माध्यम द्वारा सृजनात्मक चिंतन और प्रश्नाकुलता को पोषित करना है। यह चिंतन ही हमारी विश्व दृष्टि को समस्याओं के बदले समाधान का अंग बनाएगी। यह पत्रिका प्रचलित शोध पत्रिकाओं और साहित्यिक पत्रिकाओं के स्तंभों के मिश्रित रूप का अनुसरण करती है। इस प्रकार से रचनात्मक अभिव्यक्ति द्वारा मन और विचार के झरोखे से शिक्षा की प्रक्रिया और तंत्र को अभिव्यक्ति की अनेक विधाओं में व्यक्त करती है। इसका एक उद्देश्य यह भी है कि यह लेखन की झिझक को तोड़ने, पठन और मनन को बल दे। इस कारण से ही शिक्षा क्षेत्र नव प्रवेशी अध्येताओं जैसे- बी.एड., डी.एड., बी.एल.एड. के विद्यार्थियों की अभिव्यक्ति को इसमें विशेष महत्व दिया गया है। इसमें अंतरअनुशासनिक परिप्रेक्ष्यों को भी शामिल करने का प्रयास किया गया है। इस उद्देश्य से मानवशास्त्र, स्त्री अध्ययन आदि क्षेत्रों के लेखों को भी स्थान दिया गया है।

आशा है कि संवर्धन हम सभी के अनुभव और विचारदर्शन का संवर्धन करेगा....

संपादक मंडल

भारत में शिक्षा की चुनौतियां और अपेक्षाएँ

प्रो.गिरीश्वर मिश्र

भारत में शिक्षा की जड़ें बड़ी गहरी हैं और ज्ञान के विविध क्षेत्रों में इस देश की उपलब्धियां स्पृहणीय रही हैं। यहां गुरुकुल, अग्रहार, विहार और मदरसा तो थे ही, नालन्दा और तक्षशिला जैसे उच्चकोटि के विश्वविद्यालय भी थे जहां अनेक विषयों में शिक्षा दी जाती थी।यहां 'अविद्या' को सबसे बड़ा क्लेश माना गया और विद्या से मुक्ति की कामना की गयी। आज की यह अवधारणा कि शिक्षा मनुष्य को स्वतंत्रता देती है और सशक्त बनाती है यहां के लिए अपरिचित नहीं रही है। ऐसे में यह राज्य का दायित्व बनता है कि वह समाज के सदस्यों की क्षमता और देश की 'मानव पूंजी'(ह्यूमन कैपिटल) को समृद्ध करे। खास तौर पर जब मानव कल्याण को व्यक्ति के रूप में कार्य करने की स्वतंत्रता (फ्रीडम) के रूप में देखा जाने लगा है तो हमें व्यक्तिगत क्षमताओं जैसे- शिक्षा, योग्यता, और कौशल, इन सबको विकसित करने पर अधिक ध्यान देना होगा क्योंकि आज भी समाज गरीब और अमीर के वर्गों में बंटा हुआ है और उनके बीच की दूरी कम नहीं हो रही है। इस पृष्ठभूमि में देखें तो आज शिक्षा की स्थिति असंतोषजनक है। इस स्थिति के अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक कारण हैं। दुर्भाग्यवश आज की शिक्षा पद्धति की आधारभूमि बर्तानवी औपनिवेशिक शासन की उस नीति में थी जिसका उद्देश्य शासकों और शासितों के बीच के बिचौलिए पैदा करना था। इसके लिए पश्चिमी शिक्षा की अंग्रेजी माध्यम से नींव डाली गयी। महात्मा गांधी के शब्दों में कहें तो 'अंग्रेजों ने यहां की जड़ों को खोद फ़ेंका और तब यहां का शिक्षा का सुन्दर वृक्ष सूख गया'।

कहना न होगा कि भारत जैसे एक युवा देश के सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए शिक्षा एक शक्तिशाली माध्यम हो सकती है। एक अनुमान के अनुसार 2020 में भारत की औसत आयु 29 वर्ष हो जायगी और दस में से चार ग्रेजुएट चीन या भारत से होंगे। जनसंख्या के इस परिवर्तन का लाभ लेने के लिए शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता, प्रासंगिकता और विस्तार आवश्यक है। आज के जमाने में बौद्धिक पूंजी से ही भौतिक सफ़लता मिल सकती है।

सरकार ने छात्रों की शिक्षा में असमानता को दूर करने और स्तर को ऊंचा उठाने के अनेक प्रयास भी किए हैं पर पूरी सफ़लता नहीं मिल सकी है। आकार की दृष्टि से भारत की उच्च शिक्षा विश्व की सबसे बड़ी व्यवस्था है जिसमें 25.9 मिलियन विद्यार्थी 45,000 डिग्री और डिप्लोमा देने वाली संस्थाओं में शिक्षा पा रहे हैं। विश्वविद्यालयों की संख्या 70-71 में 103 थी जो 2011-12 में 659 हो गयी। 35,000 कालेज हैं जिनमें से एक तिहाई पिछले पांच वर्षों में खुले हैं। फ़िर भी 18 -25 वर्ष आयु वर्ग के लोगों में से केवल सात प्रतिशत लोग ही उच्च शिक्षा में दाखिल हो पाते हैं। इस तरह मांग और पूर्ति के बीच बहुत बड़ा अन्तर विद्यमान है। उच्च शिक्षा की गुणवत्ता की कमी, उस तक पहुंच या उपलब्धता का अभाव, उसका राजनैतिक नियंत्रण, कुशासन, अन्धाधुन्ध निजीकरण और अध्यापकों की कमी ने बहुत हानि पहुंचाई है। भारत के उद्योगों की शिकायत है कि लगभग 80 प्रतिशत ग्रेजुएट ठीक से प्रशिक्षित न होने के कारण नौकरी के काबिल ही नहीं हैं। उनको काम लायक बनाने के लिए अतिरिक्त प्रशिक्षण की जरूरत पड़ती है। जनसंख्या की दृष्टि से देखें तो विश्व का 17 प्रतिशत मस्तिष्क का वैश्विक शोध में योगदान मात्र 3.5 प्रतिशत है। विश्व स्तर की संस्थाओं में यहां की संस्थाओं की गणना नहीं होती। शिक्षा मंहगी भी होती जा रही है। निजीकरण ने शिक्षा को महंगा बना डाला है

इन सब प्रश्नों को लेकर अनेक आयोग और समितियां बनी हैं पर उनकी संस्तुतियां ठंडे बस्ते में रख दी गयीं या फ़िर आधी अधूरी ही अमल में आ सकीं। विश्वविद्यालय का लक्ष्य ज्ञान का उत्पादन है परन्तु अंग्रेजीदां भारतीय ज्ञान के उपभोक्ता ज्यादा और उत्पादक कम हैं। रटने पर बल देने के कारण छात्रों की कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता कुंठित हो जाती है। दूसरी ओर अध्यापकों की जबावदेही या एकाउन्टेबिलिटी के अभाव में अध्यापन की गुणवत्ता घट जाती है। ज्ञान के उत्पादन को लेकर हमारा दृष्टिकोण इसके लिए काफ़ी जिम्मेदार है। इसका एक ताजा उदाहरण यू जी सी का शोध मूल्यांकन के लिए ए पी ए व्यवस्था है। यह एक अध्यापक के सकल शैक्षिक उत्पाद का

मापक है और आज उच्च शिक्षा के अध्यापक इसके प्वाइंट बटोरने में लगे हैं। शोध के तथाकथित आई एस एस एन नम्बर वाले जर्नलों के छपने की भरमार हो गयी है जिनकी गुणवत्ता सन्दिग्ध होती है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा के नियमन का काम विश्वविद्यालय अनुदानआयोग (यूजीसी) पिछले 60 वर्षों से कर रहा है। इसी तरह नैक द्वारा उच्च शिक्षा की संस्थाओं की गुणवत्ता को निर्धारित करने की जिम्मेदारी दी गयी है। स्वायत्तता, पारदर्शिता और जवाबदेही की दृष्टि से इन संस्थाओं में कई सुधार आवश्यक हैं। विशेष रूप से इन्हें राजनैतिक दखल और निहित स्वार्थ वाले समूहों के प्रभाव से मुक्त करना आवश्यक है। इनकी कार्यप्रणाली प्रभावी नहीं होने से उबाऊ हो जाती है और लोग उदासीन हो जाते हैं या फ़िर अनुचित साधनों का सहारा लेते हैं। सारी प्रक्रिया बड़ी समयसाध्य है और ग्रान्ट प्रायः समय समाप्त होने के बाद मिलती है या फ़िर अन्त में जब थोड़े से दिन रहते हैं और उसका लाभ नहीं मिल पाता है। बारहवीं योजना में राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान (रूसा) चलाया गया है जिसका लक्ष्य उच्च शिक्षा में सभी तरह की असमानताओं को दूर कर सुशासन द्वारा उसकी उपलब्धता और गुणवत्ता को सुनिश्चित करना है। इसका लाभ तभी मिलेगा जब इसे ठीक से लागू किया जाय।

वस्तुतः गुणवत्ता और उपलब्धता बढ़ाना शिक्षा के विकास और समावेशी बनाने की दिशा में सबसे बड़ी चुनौती है। स्वतंत्रता मिलने के बाद देश की शिक्षा नीति समाज के सभी वर्गों के लिए शिक्षा के समान अवसर देने के प्रति प्रतिबद्ध थी। भारतीय संविधान ने भी सामाजिक रूप से वंचित समूहों के लिए व्यवस्था की और सामाजिक न्याय स्थापित करने का प्रयास किया। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने विषमता दूर करने पर जोर दिया। बाद में डीपीईपी और सर्वशिक्षा अभियान आदि के द्वारा इस दिशा में कोशिश हुई। आज प्राथमिक स्तर पर में शिक्षा के अधिकार के प्रावधान द्वारा छात्रों का प्राइमरी स्तर पर नामांकन बढ़ा है। अच्छी बात यह भी है कि समाज के हाशिए पर रहने वाले समुदायों के बच्चे भी स्कूल जाने लगे हैं। 2011-12 में ग्रामीण क्षेत्र में लड़कों का 51 और लड़कियों का 48 प्रतिशत से कुछ ज्यादा रहा है। उसी अवधि में अनुसूचित जाति का 20 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति का 12 प्रतिशत रहा है। दूसरी पिछड़ी जाति का लगभग 42 और मुस्लिम का लगभग 12 प्रतिशत था। यह भी गौरतलब है कि बच्चे स्कूल में टिकते नहीं और बीच में ही पढ़ाई छोड़ जाते हैं और खराब स्कूल में यदि कुछ पढ़ाई कर भी लेते हैं तो उनमें अपेक्षित कौशल नहीं विकसित हो पाते हैं और शिक्षा का लाभ उन्हें नहीं मिल पाता है।

परिवार की आर्थिक स्थिति पढ़ने लिखने के लिए अपेक्षित सहायक परिवेश को बनाने में सहायक होती है। परन्तु भारतीय समाज में आज कई तरह के विद्यालय चल रहे हैं : सरकारी, मिशनरी, मदरसा, पाठशाला, पब्लिक, आवासी और अन्तरराष्ट्रीय। इन सब में शिक्षा का स्वरूप काफ़ी भिन्न-भिन्न है। पाठ्य चर्या, फ़ीस, शिक्षा-माध्यम, सुविधाओं और सीखने के अवसरों को देखें तो इनकी रेन्ज या विस्तार में जमीन -आसमान का फ़र्क दिखता है। स्कूलों की यह विविधता शिक्षा तक पहुंचने में और असमानता पैदा करती है। साथ ही बच्चों की सहभागिता और शैक्षिक उपलब्धि में भी असमानता बढ़ती है। आज दिल्ली, मुम्बई और बेन्गलुरु जैसे महानगरों में नर्सरी में दाखिला एक अभिभावक के लिए खर्चीली और कठिन चुनौती बन गयी है। आर्थिक पृष्ठभूमि यह तय करती है कि बच्चा कैसी शिक्षा और किस स्कूल में पा सकता है। शिक्षा आज पैसे वालों के लिए मुफ़ीद व्यापार हो गया है। हर सम्पन्न व्यक्ति और कार्पोरेट घराने शिक्षा के क्षेत्र में समाज सेवा नहीं, बल्कि कमाई करने के लिए, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय खोलते चले जा रहे हैं।

- आज देश की अपेक्षा है कि लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये । उन्हें समाज में महत्व और सुरक्षा मिलनी चाहिये। उन्हें अपने जीवन में निर्णय लेने का अधिकार मिलना चाहिए। उन्हें सामाजिक और आर्थिक विकास के कामों में भागीदार होना चाहिए। उन्हें सामाजिक परिवर्तन का वाहक होना चाहिए।
- पढ़ाने, सीखने की प्रक्रिया और सामग्री ऐसी हो जो भिन्न संस्कृतियों और सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों के प्रति संवेदनशील हो और उनकी जरूरतों और बाधाओं का समाधान कर सके।
- ऐसी पाठ्य चर्या जो जीवन के अनुभवों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से, जिसमें बच्चे रहते हैं, से जुड़ सके।

- ऐसी शिक्षण विधियों को विकसित किया जाय जो उस ज्ञान, अनुभव तथा कौशल का उपयोग कर सके जो बच्चे अपने घर और पास-पड़ोस में खुद सीखते हैं। बच्चे के सांस्कृतिक परिवेश को एक संसाधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।
- स्कूल और कक्षा के अन्दर अभ्यास को सुधारा जाय ताकि बच्चों को अकादमिक उपलब्धि के लिए घर पर निर्भरता कम हो। आज ट्यूशन और कोचिंग का व्यापार बड़ी तेजी से बढ़ रहा है और बच्चों के के. जी. से ले कर आई. ए. एस. हर परीक्षा के लिए इसकी व्यवस्था की जा रही है। औपचारिक शिक्षा की एक तरह की अपात्रता और अपर्याप्तता हमने स्वीकार कर ली है।
- संदर्भ के अनुकूल अध्यापक–विकास कार्यक्रम को विकसित किया जाय जो उन्हें सामाजिक संवेदना और व्यावसायिक कौशलों को विकसित करे ताकि वे अध्यापन प्रशिक्षण के अभ्यास को अध्यापन की परिस्थिति में लागू कर सकें।
- वैसे तो कक्षा वहीं है जहां सीखना संभव हो। आज दूर शिक्षा (डिस्टेन्स एजुकेशन) के जमाने में भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि के लोग भिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम और रुचि को प्रोत्साहित कर सकते हैं। प्रौद्योगिकी का सार्थक उपयोग लाभकारी होगा।

शिक्षा का महत्व किसी से छिपा नहीं है परन्तु इसकी उपेक्षा भी उतनी ही स्पष्ट रूप से उजागर है। शिक्षा में सुधार लाने के लिए आवश्यक होगा कि उसे केन्द्रीय सूची में लाया जाय। शिक्षा में राजनैतिक हस्तक्षेप बन्द हो। विज्ञान और तकनीकी के साथ मानविकी पर भी बल दिया जाय। उच्च शिक्षा की स्वायत्तता सही अर्थों में स्थापित की जाये । शिक्षा को योजना में प्राथमिकता मिलनी चाहिए और सबके लिए अच्छी शिक्षा के अवसर को उपलब्ध कराना होगा। साथ ही अध्यापकों के प्रशिक्षण और मनोबल को भी बढ़ाना होगा। पूरी शिक्षा प्रक्रिया को सीखने वाले छात्र को केन्द्र में रख कर आयोजित करना होगा। साथ ही शिक्षा केन्द्रों को और अध्यापकों को अपनी सामाजिक जिम्मेदारी निभाने के लिए तैयार करना होगा। शिक्षा नए विचारों, सृजनात्मकता और सामाजिक सरोकारों से जुड़ी होनी चाहिए। तभी देश उन्नति कर सकेगा और जीवन की गुणवत्ता सुधर सकेगी।

आलेख

नैतिक एवं संवेगात्मक विकास में मीडिया की भूमिका

संदीप कुमार

बच्चे आज एक ऐसे युग में जी रहे है जहां उनके अनुभवों में मीडिया एक मध्यस्थ की भूमिका निर्वहन करता है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि छोटे बच्चे किसी विशेष कार्यक्रम को देखकर एक खास सांवेगिक प्रवृत्ति विकसित कर ले।यह भी सम्भव है कि बच्चे किसी कार्टून पात्र को देखकर उसके साथ एक सांवेगिक सम्बन्ध स्थापित कर ले। भारतीय बच्चे, विशेषकर शहरी जीवन में, अधिकतर समय टेलीविजन, मोबाईल फोन या वीडियो गेम्स के साथ व्यतीत करते हैं। एकल परिवार, अभिवावकों की व्यस्तता इस के कुछ महत्वपूर्ण जिम्मेदार कारण है इससे बढ़कर, अभिभावक ऐसा करने में गर्व भी महसूस करते है, लेकिन, बच्चों ने क्या कुछ खोया इस पर अभिभावक विरले ही सोचते है। वह समय ज्यादा दूर नहीं जब प्रत्यक्ष रूप से अन्तःक्रिया का जमाना लद जाएगा एवं सभी कुछ तकनीकी रूप से होगा।

बच्चों में सवेगों एवं सामाजिक क्षमताओं का विकास एक जटिल प्रक्रिया है। समाज, समुदाय आदि में की जाने वाली प्रत्यक्ष सहभागिता उन्हें मूल्यों, नियमों, परम्पराओं के साथ अंतःक्रिया करने योग्य बनाती है जिसके चलते बच्चे परिवार, साथी-समूह तथा वृहत समाज के साथ जुडे अपने प्रकार्यो को समझते, सीखतेएवं विकसित करते हैं, बल्किउनपर नियंत्रण रखना भी सीखते हैं । इस प्रक्रिया का सीधा ताल्लुक उनकी स्वयं की अभिक्षमता, अभिवृति एवं संज्ञानात्मक योग्यताओं से भी होता है और इसी क्रम में मीडिया भी एक अहम भूमिका उनके समाजीकरण में निभाता है। टी.वी., फोन, इंटरनेट जैसे साधन बच्चों को प्रचलित संस्कृति (पॉपुलर कल्चर) से परिचित होने के लिए द्वार प्रदान करता है। इस द्वार में प्रवेश करने के पश्चात बच्चे विभिन्न पात्रों की प्रशंसा, आलोचना आदि के साथ-साथ सांवेगिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का अनुभव अपनी क्षमताओं एवं अधिरोपित समझ के दायरों में करते हैं।

प्रस्तुत लेख में मैंने उन शोधों पर पुनर्विचार एवं समीक्षा करने का प्रयास किया है जो बच्चों के संवेगात्मक एवं सामाजिक रूप से स्वस्थ होने और मीडिया के मध्य संबंधों पर विचार करते हैं। शुरूआत मैंने भावात्मक एवं संवेगात्मक विकास में मीडिया की भूमिका से ही

है मेरा प्रयास यह दर्शाना है कि बच्चे मीडिया के माध्यम से किस प्रकार संवेगों की प्रकृति एवं प्रकार्यों को सीखते है । इस समीक्षा में दो प्रसंग उत्पन्न हुये। पहला, मीडिया बच्चों के विकास में नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों भूमिकाएं निभाता है जोकि अति सरलीकृत कथन होगा। अधिकतर प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि किस प्रकार की विषय वस्तु से बच्चों का सामना होता है। मीडिया के कुछ पहलू बच्चों में एक प्रभावी एवं समाज सम्मत व्यवहार के विकास में भूमिका निभा सकता है, जबकिकुछ अन्य इसके बिल्कुल विपरीत। बच्चे क्या देखते हैं यह ज्यादा प्रभावपूर्ण होता है, बजाय यह आकलन करने के,कि वे कितना देखते है।

सभी बच्चे मीडिया से समान रूप से प्रभावित नहीं होते । उदाहरण के लिए बच्चे की आयु एवं विकासात्मक स्तर इस प्रभाव के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कुछ परिस्थितियों में छोटे बच्चे मीडिया से ज्यादा जुड़े होते हैं, जबकिकुछ में बड़े बच्चे। मीडिया की ऐसी विषय वस्तु जो ज्यादा जटिल एवं सांवेगिक है उसका प्रभाव उन बच्चों पर ज्यादा पडनें की सम्भावना है ,ज्यादा परिष्कृत संज्ञानात्मक कौशल रखते हैं। परिवार, जाति, लिंग एवं सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि भी मीडिया के प्रभाव पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। अर्थात् मीडिया का प्रभाव/भूमिका सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं बल्कि, सापेक्ष है।

नैतिक विकास में मीडिया की भूमिका

मीडिया की आलोचना में एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि यह नैतिकता के पतन का जिम्मेदार है। सामान्य अवलोकन एवं शोध इस बात के परिचायक है कि जिस तरह की संस्कृति टी.वी. और फिल्मो में दिखाई जा रही है वह नैतिकता के मानदंडों को नीचे ले जा रही है।

चिन्ता ज्यादा बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि बच्चे और युवा बहुत ज्यादा समय मीडिया से सम्पर्क में रहता है इससे बढ़कर अवांछित विषय वस्तु तक बच्चों की पहुँच, चिन्ता को और ज्यादा बढ़ा देती है। बच्चों को हिंसात्मक, वासना युक्त, चोरी, लालच जैसे अनगिनत घटनाक्रम एवं कहानियां, टी.वी, फिल्म, रिएल्टी शो, संगीत, इंटरनेट सब जगह मिल जाती है न के बराबर शोध कार्य जो व्यवहारिक हो इस बात को लेकर हुऐ है कि मीडिया बच्चों के नैतिक विकास से कैसे जुड़ा है। व्यापक स्तर पर शोध कार्य इस बात को लेकर हुये है कि मीडिया बच्चों के समाज सम्मत एवं समाज विरोधी व्यवहार को कैसे प्रभावित करता है लेकिन इस बात पर न के बराबर ध्यान दिया गया है कि मीडिया से बच्चे किस प्रकार के नैतिक अध्याय सीखते है जो शायद किए गए व्यवहारों के तल या मूल के कार्य करते है।

बच्चों में नैतिक विकास एक पूर्वानुमानयः पथ पर होता है? जब कोई नैतिक, द्वंद लगभग 7 साल के बच्चे के समक्ष होता है, तो वह उसके परिणामों के आधार पर उसे सही या गलत मान लेता है। लेकिन परिपक्वता बढ़ने के साथ, जब वह बहु-दृष्टिकोणों को समझने लगता है, तथा कार्यों के उद्देश्य को समझ पाता है, तब उसकी नैतिक तार्किकता लचीली हो जाती है तथा 'स्वयं' से 'दूसरों' पर अभिविन्यस्त/हस्तांतरित हो जाता है।

मरीना कर्कमर ने कई शोध मीडिया के नैतिक तार्किकता पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में किए हैं । एक सर्वे में उन्होने 6-12 वर्ष के बच्चों को एक प्राक्ल्पनात्मक कहानी बताई जिसमें रक्षा हेतु हिंसा को न्यायसंगत और यादृच्छिक कारणों से हिंसा को न्यायसंगत नहीं बताया। अधिकतर बच्चों ने अन्यायसंगत हिंसा/क्रोध को गलत बताया लेकिन बच्चे जो अधिकतर काल्पनिक हिंसा वाले कार्यक्रम देखते हैं ने आक्रमकता का ज्यादा पक्ष लिया तथा उसे न्यायोचित ठहराया। शोध में यह भी पाया गया कि मुख्य नायक द्वारा की गई हिंसा न्यायसंगत बताइ गई। मरीना के अध्ययन में बच्चे जो ज्यादा काल्पनिक हिंसायुक्त कार्यक्रम देखते है (सावधन इंडिया, क्राइम पेट्रोल आदि) ने कम विकसित नैतिक तार्किकता को दर्शाया तथा नैतिक तर्किकता के लिए नियमों तथा दण्ड की उपस्थिति और अनुपस्थिति को आधार बनाया।

इस शोध में टी.वी देखने में अभिभावकों की भूमिका को सम्मिलित किया गया तथा यह पाया कि जहाँ अभिवाकों ने बच्चों के साथ सम्पर्क स्थापित रखा वहां बच्चों ने काल्पनिक हिंसात्मक कार्यक्रम को देखा तथा उच्च तार्किकता युक्त कौशलों का प्रदर्शन किया। जहां अभिभावकों ने नियन्त्रण नहीं रखा वहां नैतिक तार्किकता से जुड़े कौशलों का प्रदर्शन अपेक्षाकृत निम्न स्तर का रहा।

यह अध्ययन दर्शाते हैं कि टी.वी. पर अधिक हिंसात्मक कार्यक्रम को देखना बच्चों के नैतिक विकास में बाधक का काम करता है। इस उलझन पर इन शोधों ने कुछ प्रकाश डाला है। प्रस्तुत लेख हेतु कारण-प्रभाव के सापेक्ष बच्चों के सही गलत के नैतिक सम्प्रत्ययीकरण

पर टी.वी. का प्रभाव का अध्ययन किया। 6-14 वर्ष तक की आयु के बच्चों को यादृच्छिक रूप से तीन समूहों मे बांटा गया। एक समूह ने ऐसा कार्टून प्रोग्राम देखा जिसके पात्र आपस में बहस करते दिखाए गए और अन्त में हिंसात्मक हो गए। दूसरे समूह को भी वही प्रोग्राम दिखाया गया लेकिन अन्त में हिंसा नही हुई, बल्किवे अलग-अलग हो गए। तीसरे समूह को तटस्थ रखा गया। इसके बाद बच्चों को चार हिंसाप्रद कहानियों के सन्दर्भ में न्याय करने को कहा गया। जिन बच्चों ने हिंसात्मक प्रोग्राम देखे थे उन्होंने हिंसा को ज्यादा नैतिक ठहराया, बजाए उनके, जिन्होंने हिंसा युक्त प्रोग्राम नहीं देखे थे। इन्होने अपनी प्रतिक्रियाओं में कम परिष्कृत नैतिक तार्किकता का प्रदर्शन किया। जिसको ज्यादातर सत्ता एवं दण्ड से तार्किकता प्रदान की गई (उदाहरणः आपको मारना नहीं चाहिए नहीं तो आपको परेशानी होगी)। यह शोध इस बात का भी स्पष्टीकरण करता है कि थोडे समय के लिए किया गया सम्पर्क भी बच्चों के द्वारा किए जाने वाले नैतिक मूल्यांकन तथा प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है।

इस मामले में किया गया दूसरा अध्ययन ज्यादा दीर्घकालीन था। इसके तहत 20 ऐसे पूर्व प्राथमिक स्कूली बच्चों को लिया गया। जिनको 'सम्भालना कठिन' था तथा 20 समान उम्र के अन्य बच्चों को अध्ययन में लिया गया दोनों ही समूहों के बच्चों का चार वर्ष की आयु में समान तरह के खेलों को खेलने का अवसर दिया गया लेकिन अन्य बच्चों की अपेक्षा, 'संभालने में मुश्किल' बच्चों ने खेलों में मारने पर , हत्या, मृत्युएवंझगड़े पर अधिक ध्यान दिया। यह खेल काफी हद तक मीडिया के पत्रों एवं घटनाओं से जुड़े रहे जो समूह हिंसा प्रद खेलों से जुड़ा रहा, ने छः साल की आयु में नैतिक तार्किकता के निम्न स्तर प्रदर्शित किए, बजाय दूसरे बच्चों के। हिंसात्मक खेल वाले बच्चों ने अन्यों की अपेक्षा दुविधा के समय में मतलवी एवं स्वयं के सुखवाद से प्रभावित होकर नैतिक निर्णय लिए तथा उद्देश्यों एवं भावनाओं के स्थान पर दण्ड को अधिक महत्व दिया हालांकिबच्चों की मीडिया से जुड़ी आदतों को सीधे नहीं जाँचा गया, लेकिनउनके व्यवहार एवं प्रतिक्रियाओं में उनके द्वारा देखे गए कार्यक्रम स्पष्टतः परिलक्षित हुऐ।

संक्षेप में, शोध दर्शाते हैं कि टी.वी. पर दिखायी जाने वाली हिंसा, बच्चों को उसे न्याय संगत ठहराने में मदद करती है। साथ ही उनकी नैतिक तार्किकता के विकास में भी बाधा का काम करती है। नायक द्वारा की गई हिंसा को ज्यादा मजबूती के साथ बच्चों ने दर्शाया। पुनः ध्यान दिलाना आवश्यक है कि किस तरह की विषय वस्तु बच्चे टी.वी. पर देखते हैं वह महत्वपूर्ण हैं । हालांकि इस प्रकार के निष्कर्ष स्थायी नहीं हो सकते, क्योंकिइस क्षेत्र में बहुत कम कार्य उपलब्ध है। एक प्रयोग और एक दीर्घकालीनअध्ययन के आधार पर बहुत कुछ निष्कर्षतः कहना कठिन है। यह मात्रा एक झलक ही प्रस्तुत कर सकता है। यहाँ बच्चों के केवल आक्रमकता के प्रति नैतिक विचार समझे गये हैं। यहाँ नैतिकता से जुड़े कई पहलुओं जैसे धोखा, झूठ, चोरी आदि की तरफ ध्यान नहीं दिया गया है, जो एक अलग प्रकार की समझ इस विषय को दे सकता है।

संवेगात्मक विकास में मीडिया की भूमिका

बच्चों को दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु संवेगात्मक कौशलों की आवश्यकता होती है। निसंदेह, सामाजिक अभिक्षमता के निर्माण में दूसरों के संवेगों को पहचानना एवं उनकी व्याख्या करने की योग्यता महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मनोवैज्ञानिक एवं मीडिया के विद्वान समान रूप से मानते है कि स्क्रीन मीडिया, बालकों के संवेगात्मक विकास में अहम भूमिका निभाती है।

संवेगात्मक क्षमता का पहला कौशल दूसरों के संवेगो को पहचानने की क्षमता होती है। शोध दर्शाते हैं कि पूर्व विद्यायलयी अवस्था के बच्चे समान संवेगो जैसे खुशी, दुख, डर आदि की पहचान तथा उनमें अंतर टी.वी के पात्रों के प्राप्त अनुभवों के आधार पर करते हैं। हालांकिछोटे बच्चे, जटिल संवेगों को समझने एव पहचानने में कठिनाई महसूस करते हैं । वे व्यक्तियों की बजाय चलचित्रों से ज्यादा प्रभावित होते हैं। चाहें चलचित्रों के पात्रों की संवेगात्मकता पर ध्यान केन्द्रित न करते हो। आठ नौ वर्ष की अवस्था तक आते-आते बालक, विशेषकर लड़कियाँ पात्रों से जुड़े भावों को समझने लगते हैं। बढ़ती आयु के साथ संवेगों की जटिलता को पहचाने के साथ उसे भावात्मक तौर से समझने लगते हैं । जटिल संवेग जैसे जलन आदि के प्रति भी समझ का विकास होने लगता है, तथा बच्चे टी.वी. कार्यक्रमों के साथ वास्तवविकता को जोड़कर देखना भी शुरू करते हैं।

लेकिन क्या संवेगात्मक चित्रण बच्चों को संवेगों के बारे में सिखाते हैं। आश्चर्य की बात है कि इस बात के बहुत ही कम साक्ष्य उपलब्ध हैं। बच्चों में किसी कार्यक्रम को लगातार देखने से भी संवेगों का विकास होता है। जब कुछ बालकों से एक विशेष

कार्यक्रम,जिसे वह नियमित तौर पर देखते हैं, के बार में बच्चों से प्रश्न कराया गया तो उनकी प्रतिक्रियाओं में संज्ञानात्मक पहलू के बजाए भावात्मक एवं संवेगात्मक पहलू अधिक परिलक्षित हुए। अर्थात,देखे गए सूचना प्रधान कार्यक्रमों से भी बच्चों ने संवगों की समझ अधिक सीखीजैसे, डर से बाहर आना, अलग-अलग भावनाओं को बताना आदि। बच्चों ने ईमानदारी, वफादारीबांटना आदि बातों पर ज्यादा बल दिया, न कि, इतिहास, विज्ञान आदि पर। लिंग भेद स्पष्ट नजर आया, लड़कों की बजाय लड़कियों ने ज्यादा संवेग कोसीखा तथा बातचीत में दर्शाया। यह अंतर इस बात का परिचायक है कि लड़कियाँ अधिक जुड़ाव एवं लिप्त होकर कार्यक्रमों को देखती है। यहां यह बताने की आवश्यकता है कि बच्चे शैक्षिक कार्यक्रमों की बजाय , मनोरंजन कार्यक्रमों से सामाजिक संवेगात्मकता की समझ अधिक विकसित करते है। लेकिन, इनको वास्तविक जीवन में उतारने की आवश्यकता है।

शोध दर्शाते है कि टी.वी पर देखा गया एक चित्रण भी बच्चों के वास्तविक जीवन में किसी विशेष संवेग में फेर बदल या बदलाव ला सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मीडिया संवेगों से संबन्धित बच्चों के स्कीमा एवं मानसिक प्रस्तुतीकरण को प्रभावित करती है। हमारे मानसिक निरूपण (स्कीमेटा) अभिव्यक्ति के इशारों या सूचकों, पारिस्थितिक कारणों एवं संवेगों को दर्शाने वाले नियमों को सम्मिलित रखते है। बालक इन्ही निरूपणों का प्रयोग मीडिया में देखे गए कार्यक्रमों की व्याख्याकरने में प्रयोग करता है। साथ हीमीडिया की विषय वस्तु भी बच्चे के निरूपणों को प्रभावित करती है। हमारे संवेगों को लेकर क्या स्पष्टीकरण है तथा यह स्पष्टीकरण जैसे है, वैसे क्यों है, के मध्य एक प्रकार का पारस्परिक सम्बंध स्पष्ट नजर आता है जो स्पष्ट तौर पर मीडिया एवं मानसिक निरूपणों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करता है।

अभिभावक इलेक्ट्रानिक मीडिया का बच्चों के विकास पर पडने वाले प्रभाव में महत्वर्पूण भूमिका निभाते हैं। वे केवल मीडिया के सकारात्मक प्रभाव एवं गुण के ही नहीं बल्कि इसके संपर्क में आने से पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावभी नियंत्रित कर सकते हैं। अभिभावक अपने बच्चों के साथ समाज-सम्मत कार्यक्रम देखते हैं, वह बच्चों में सामाजिक व्यवहार के विकास कोबढाने में मदद तथा प्रोत्साहित करते हैं।देखे गए कार्यक्रम के सन्दर्भ में सकारात्मक चर्चा करकेसक्रिय मध्यस्थता निभाई जा सकती है। यह मध्यस्थतानैतिक चर्चाओं के माध्यम से की जा सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि अभिभावक मीडिया के हानिकारक प्रभावों के प्रति बच्चों कोजानकारी दें तथा जागरूक करें। यह जागरूकता बच्चों केइन हिंसा युक्त कार्यक्रमों के साथ निपटने में मदद कर सकती है। वह यह भी समझ पाते हैं कि काल्पनिक कार्यक्रमों का ताल्लुक वास्तविक जीवन से नहीं है। इसी के साथ बच्चे ऐसी संज्ञानात्मक रणनीतियां भी विकसित करने योग्य होजाते है जोउन्हें सतर्क होकर मीडिया के सम्पर्क में आने की समझ देती हैं। पूर्व प्राथमिक स्तर पर बच्चों कोकल्पनात्मक हिंसा पर आधारित कार्यक्रम से दूर रखने का प्रयास करना अति आवश्यक है।

अतः अभिभावक के लिए यह अनिवार्य है कि वे ध्यान दें कि किस प्रकार की मीडिया से जुड़ी विषय वस्तु बच्चे को आकर्षित करती हैं। अभिभावक यह तय करें कि बच्चे किस प्रकार की विषय वस्तु एवं कितना समय मीडिया (टी. वी.) कोदें।

References

- Aimee Dorr, “Television and Affective Development and Functioning,” in Television and Behavior: Ten Years of Scientific Progress and Implications for the Eighties, edited by David Pearl, Lorraine Bouthilet, and Joyce Lazar (Washington, D.C.: U.S. Government Printing Office, 1982), pp. 199–220; Norma Deitch Feshbach and Seymour Feshbach, “Affective Processes and Academic Achievement,” Child Development 58, no. 5 (1987): 1335–47.
- Amy Halberstaadt, Susanne Denham, and Julie Dunsmore, “Affective Social Competence,” Social Development 79 (2001): 79–119.
- Donald Hayes and Dina Casey, “Young Children and Television: The Retention of Emotional Reactions,” Child Development 63, no. 6 (1992): 1423–36.
- Leanne Findlay, Alberta Girardi, and Robert Coplan, “Links between Empathy, Social Behavior, and Social Understanding in Early Childhood,” Early Childhood Research Quarterly 21 (2006): 347–59.
- Sandra Calvert and Jennifer Kotler, “Lessons from Children's Television: The Impact of the Children's Television Act on Children's Learning,” Journal of Applied Developmental Psychology 24 (2003): 275–335.
- Victoria Rideout and Elizabeth Hamel, The Media Family: Electronic Media in the Lives of Infants, Toddlers, Preschoolers, and Their Parents (Palo Alto, Calif.: Kaiser Family Foundation, 2006).

आलेख

शिक्षा और सभ्यता के सरोकारों की और प्रश्नाकुलता

अरुण प्रताप सिंह

दिनांक ०२ मार्च २०१५ को मैं किसी व्यक्तिगत कार्यवश भोपाल प्रवास पर था। इसके पूर्व कई दिनों से समय की कमी के कारण हेयर कटिंग नहीं करवा पाया था। अत: समय की उपलब्धता को देखते हुए बरबस ही मैं एक नाई की दुकान की तरफ चल पडा। सर्वप्रथम नाई से हेयर कटिंग के लिए उसके द्वारा चार्ज किये जाने वाले शुल्क के विषय में पूछ बैठा। नाई ने बताया-*चालीस रूपये* और बाद में अपनी झुंझलाहट में बोला "*लोग शराब या कपडे खरीदने के समय तो तोलमोल नहीं करते हैं किन्तु हेयर कटिंग करवाने के लिए दाम पर इतना विचार करते हैं।* " मुझे उस नाई की वेदना महसूस हुयी और मैं सहानुभूतिपूर्वक बोल पड़ा " *भैया मैंने पहले हीआपसे दाम इसलिए पूछा क्योंकि इसके पहले मेरा यह अनुभव रहा है कि कुछ नाई बाद में अधिक पैसे बताते हैं। मैं आपकी पीड़ा महसूस कर रहा हूँ और आपकी बात भी अपनी जगह पर जायज है*" संवेदना का मलहम महसूस करते ही उसकी पीड़ा मुखरित हो उठी। उसने कहा " *साहब मैं आपसे नाराज नहीं हूँ बल्कि इसके पहले और रोज- मर्रा के अनुभव के आधार पर बोल रहा हूँ। पहले के समय में लोग ठीक से बात करते थे किन्तु अब तो लोग पढ़ लिखकर भी दूसरों को न तो समझते है न ही उनसे अच्छी तरह से व्यवहार करते हैं*" उसकी यह बात सुनकर मेरा मन पीड़ित हो गया और गहराई में डूबता चला गया। मेरे मन में शिक्षा के उद्देश्य, वर्तमान शिक्षा के स्वरूप और मानव व्यवहार को लेकर कशमकश चलने लगी।

मुझे शिक्षा के अनेक उद्देश्य याद आने लगे- जैसे शिक्षा के द्वारा ज्ञानालोक के द्वार खुलने, व्यक्ति के लिए सामाजिक और आर्थिक प्रगति के अवसर उपलब्ध होने, व्यक्ति की जगतिक चेतना का विकास होने, मनुष्य को अंधविश्वासों के प्रति जागरूक करने, नवीनतम विचारों को समझने और प्रसारित करने के लिए योग्यता उत्पन्न करने तथा व्यक्ति को अनेकानेक रूपों में सशक्तीकृत करने से सम्बन्धी विचार। इन उद्देश्यों को याद करते ही मन में अनेक प्रश्न उथल-पुथल मचाने लगे क्या वर्तमान शिक्षा का स्वरूप उपरोक्त अनेक उद्देश्यों को पूरा कर पा रही है? क्या आज का शिक्षित मनुष्य अपनी गुणवत्ता को बढ़ा पाया है? क्या वह वास्तव में जंगली और अशिक्षित लोगों से श्रेष्ठ बन पाया है? आखिर हमारा देश शिक्षा पर अपने बजट में एक बड़ा भाग तो शिक्षा के लिए व्यय करता है फिर भी अपेक्षित परिवर्तन हमारे समाज में क्यों नहीं दिखायी पड़ रहे हैं? क्यों महिला को देवी और माँ के रूप में प्रतिष्ठित किये जाने वाले देश में समकालीन समाज में शर्मसेसिर झुका देने वाली घटनाएँ बढ़ती ही जा रही है?

इन चेतानाकुल प्रश्नों के आते ही शिक्षा के समकालीन स्वरूप पर मन मंथन करने लगा। शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में समायी कई विडंबनाएँ बुद्धि के प्रकाश में आने लगीं। पूरे वर्ष तक अंक या ग्रेड की दौड़, मार्कशीट से ही व्यक्ति की योग्यता का आकलन, सन्दर्भ से असंवेदित पढाई, संस्कृति और धर्म की पंथनिरपेक्ष व्याख्याओं के नाम पर दिखाऊ आधुनिकता और अनैतिकता को बढ़ाती हुयी महत्वपूर्ण माल की तरह सूचनाओं का किताबों के माध्यम से दिमागी धकापेल और प्रत्येक वर्ष सालाना परिणाम के आते ही अनेक विद्यार्थियों का अवसाद से ग्रस्त होना तो कुछ अन्य का आत्महत्या जैसे जीवन के लिए विनाशकारी कदम उठाना जैसे अनेक रूपक मेरी चेतना में धमाल मचाने लगे। बुद्धि सोचने लगी कि हम साल भर सामान्य रूप से अपनी कक्षाओं में जो कुछ पढ़ाते हैं उसको आखिर प्रासंगिक क्यों नहीं बना पाते हैं? क्या शिक्षा सिर्फ बाबूगीरी या आफिसर बनने के लिए होनी चाहिए? क्या ऐसी शिक्षा जो हमारा नाश कर रही है, उसको झेलना हमारी नियति में है? शिक्षा को आर्थिक प्रगति का वाहक मानना ही कब तक जारी रहेगा? एक किसान के बच्चे को किसानी के विषय में और उसके परिवेश के बारे में क्यों नहीं बताया जाता? क्यों शिक्षा को कुछ विशेष तरह के व्यवसायों के लिए ही एक साधन के रूप में प्रयोग किया जा रहा है? जीवन के ज्ञान से वंचित शिक्षा आखिर क्यों? वह शिक्षा जो हमें खाना पीना सिखाये, लोगों से समुचित व्यवहार करना सिखाये, प्रेमपूर्वक लोगों के साथ रहना सिखाये, पर्यावरण के प्रति एक फैशन के रूप में नहीं बल्कि संवेदनशीलता की वृत्ति जगाये, पालीथीन के नुकसानदायक पहलुओं को समझाये, देश की नदियों के प्रति हमारे मन में सम्मान जगाये, अपनी संस्कृति से

जुड़ना सिखाये, अपने बड़े-बुजुर्गों के प्रति भाव जगाये, और इन सबके द्वारा हमें एक बेहतर नागरिक बनाए, ऐसी शिक्षा क्यों नहीं? कब तक हम पाश्चात्य ज्ञान को बोझ अपनी किताबों में अंधेपन के साथ ढोते रहेंगे? क्यों अब इस देश की शिक्षा इतना बड़ा तंत्र कुछ नए विचार उत्पन्न नहीं कर पा रहा जिससे अन्धानुकरण की प्रवृत्ति छूट पाए और देश की युवा पीढीं में अपनी भाषा में तथा देशज ज्ञान में गर्व का भाव उत्पन्न हो पाए? आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? सरकारों और शैक्षणिक संस्थानों के प्रयास जिस सीमा तक सफल होने चाहिए उस सीमा तक सफल क्यों नहीं हो पा रहे हैं? डिग्रियों के ढेर हमारी प्रकृति मे बेहतरी के सूचक क्यों नहीं बन पा रहे हैं? आखिर किस दिन शिक्षा सिर्फ दिमागी श्रम के साथ-साथ एक बेहतर आदमी के निर्माण के उद्देश्य को भी अपनाएगी? किस दिन यह शिक्षा हमें यह सीखने के लिए उद्यत होगी कि सिर्फ भौतिक संसाधनों को एकत्रित करने से नहीं बल्कि अपने मानस को समझने और व्यवस्थित करने से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है? कब ऐसा दिन आयेगा जब सांप्रदायिकता और तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की सीमित सोच के चलते स्कूली बच्चे विश्व के प्राचीनतम योग और अध्यात्म के स्वास्थ्यकारी विचारों से वंचित नहीं होंगे बल्कि किसी भी संप्रदाय से जुड़े हुए शिक्षित व्यक्ति खुले मन दूसरे संप्रदायों की भी अच्छी बातों को सीखने में रुचि लेंगे। वह दिन कब आयेगा जब शिक्षा जगत में धर्म, जाति, वर्ण, क्षेत्र के नाम पर प्रतिभाओं के साथ किया जा रहा अन्याय इस देश से समाप्त होगा? कब ऐसा होगा कि विश्वविद्यालयों में शोध के नाम पर सिर्फ खानापूर्ति न किया जाकर देश और समाज की समस्याओं और वैचारिक उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया जायेगा? आखिर वह कौन सी शिक्षा पद्धति हो सकती है जो कि आज के मनुष्य को समस्याओं को समग्र तरीके से समझना सिखा सके?कब हमारी शिक्षा स्तुति-गान से संपृक्त तथाकथित वैज्ञानिक सोच के परे भी हमें सोचना सिखा पाएगी? कब तक हमारे शोध-कार्य पी-वैल्यू की ही सर्कस करते रहेंगे? कब तक हमारी वैज्ञानिक शिक्षा सूरज को आग का एक गोला, धरती को महज एक ग्रह, नदियों को महज एक जलधारा की मान्यता को स्थापित करने में लगी रहेगी? कब तक वह एक विशेष तरह के पैराडाइम को अपनाकर दूसरी अन्य सारी ऐसी मान्यताओं, श्रद्धा और विश्वास को धूल-धूसरित करती रहेगी जिनके होने से हम कहीं अधिक संवेदनशील, जागरूक और प्रकृति-प्रेमी रहे हैं? कब तक वैज्ञानिक कट्टरता हमारी शैक्षणिक सोच को जकड़े रहेगी? कब तक एक परिवेश विशेष के तथाकथित विद्वानों की चरण-वंदना हमारा देश करता रहेगा? कब तक विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य देशों के किसी भी स्तर के विद्ववज्जन को बुलाने के लिए हवाई टिकट और देश की प्रतिभाओं को दुत्कार मिलता रहेगा? फारेन रिटर्न प्रोफेसर्स को ही तवज्जो देनी की हमारी सोच कब अपने पराभव को प्राप्त होगी? उनका ज्ञान विज्ञान और हमारा ज्ञान थोथा मानने की आखिर अंतिम घड़ी कब आएगी? कब हिन्दी भाषा में भी वैज्ञानिक और समाज-वैज्ञानिक शोध कार्य कर पाएंगे और अगर ऐसे शोध-कार्य हुए हैं तो कब उन्हें वर्तमान अकादमिक जगत स्वीकार करेगा? एक विशेष भाषा में उपलब्ध ज्ञान कब तक अपना प्रभुत्व बनाए रखेगा?

इन अनेक प्रश्नों के तदनंतर, वर्तमान समाज पर मेरा ध्यान जाने लगा। मेरे मन में यह विचार आने लगा कि शायद देश में पढ़े लिखे नासमझों की संख्या अनपढ़े नासमझों से कहीं ज्यादा है। देश के न्यायालयों के द्वारा सजायाफ्ता अनेक लोग प्रथम श्रेणी में ही आते हैं। शिक्षा जगत में फैले भाई-भतीजावाद ने प्रतिभाओं के विकास में बुरी तरह से अनेक अड़चनें पैदा की हैं। विश्वविद्यालयों में राजनीति का फैला हुआ मकड़जाल नित नए तरह से देश और समाज को नवीन विचारों और अनुसंधानों से वंचित करता है। यह प्रभाव सिर्फ अध्यापक वर्ग तक सीमित नहीं है बल्कि डाक्टर, वकील, इंजीनियर, क्लर्क, प्रशासनिक अधिकारी जैसे अनेक वर्ग इस तरह की विडंबनाओं से दो-चार हो रहे हैं। भ्रष्टाचार और कालाधन के कारनामे इन वर्गों में व्यापक पहुँच बना रहे हैं।

इतना सब कुछ सोचते हुए मन में अवसाद घिर रहा था। किन्तु तभी समाधान की एक रश्मि फूट पड़ी. एक विचार आया शेयर मार्केट की आईडियोलाजी से, वह विचार था समझदारीपूर्ण इन्वेस्टमेंट का। अगर शिक्षा के द्वारा प्राप्त ज्ञान का इन्वेस्टमेंट हम अपने व्यक्तित्व और आस-पास की घटनाओं को समझने के लिए करते हैं यानी की सूचना को सिर्फ बुद्धि के सतही धरातल तक ही सीमित न रखकर उसका एप्लीकेशन करते हैं तो ब्याज में संस्कार उत्पन्न होगा, समझ और संवेदना जागेगी तथा हमारा मूलधन यानी कि उसके द्वारा परीक्षा में उच्च परिणाम तो मिलेंगे ही। इसके साथ ही हमें अब शिक्षा में मूल्यों और स्वास्थ्य को भी सांस्कृतिक समझ के साथ सम्मिलित करना चाहिए। इन विचारों के आते ही मन सहज हो चला था। बुद्धि उधेड़-बन से मुक्ति पाकर शान्ति महसूस करने लगी तभी नाई ने कहा "*साहब आपके बाल बन चुके हैं। शेविंग भी करनी है क्या?*"

आलेख

हिंदी बाल काव्य का स्वरूप व विकास यात्रा

टीना यादव

बाल-साहित्य का मूल आशय बालक के लिए सृजनात्मक साहित्य से है। बाल-साहित्य का उद्देश्य बाल-पाठकों का मनोरंजन करना ही नहीं, अपितु उन्हें आज के जीवन की सच्चाईयों से भी परिचित कराना है। प्राचीन बाल-साहित्य के रूप में लोक-कथाएँ, लोरियाँ और खेलगीत लिये जा सकते हैं। युग-परिवर्तन के साथ-साथ इनका मौखिक आदान-प्रदान होता रहा है। बाल-साहित्य की सुरमयी धारा है बाल काव्य। बाल साहित्य के विविध अंगों में बाल्य काव्य का विशिष्ट स्थान है। सामान्यतः नवजात से षोडश वर्ष की आयु को बालपन माना गया है और इनके लिए लिखा काव्य बाल काव्य है। पाँच से चौदह वर्ष तक का बाल-वर्ग बालकाव्य से जुड़ा वास्तविक वर्ग है (डॉ. डोभाल, 1990)। बालकाव्य में तुकबंदी, लोरी, पहेलियाँ, शिक्षाप्रद, चुटकुले, जीभ के करतब और अंग्रेजी 'राइम्स' से प्रभावित कविताएँ रखी जा सकती है। (गड़बड़झाला, 1999) हिंदी बाल-काव्य में लोरियों, शिशु गीतों की समृद्ध धारा है। बाल काव्य में खेल गीतों को भी समाहित किया गया है। हिंदी बाल-काव्य बालक के जीवन में छुटपन से ही लोरियों के रूप में घुलने लगता है। बाल-कविता के नटखट अंग शिशु-गीत यदि अच्छे हो तो बच्चे के मन पर एक तरह की स्थायी छाप छोड़ता है और बड़े होने पर भी उसका प्रभाव फीका नहीं पड़ता। कविताएँ वर्णन करने का स्वाभविक तरीका भी बखूबी सिखाती है। बच्चों में कल्पनाओं की गति अत्यधिक तीव्र होने पर कभी-कभी असंगत और असम्बद्ध हो जाती है। बच्चे ऐसी कल्पनाओं की भी अभिव्यक्ति बालगीतों में पाकर आनन्दित होते हैं। इस प्रकार के बालगीत निरर्थक बालगीत कहे जाते हैं। इनमें कल्पना की विचित्रता होती है जो प्रसन्नता देती है-

दूध जलेबी जग्गग ...
उसके अंदर मग्गगा...

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार बाल-काव्य का सूत्र लोरी है।ये 3-5 वर्ष के बच्चों हेतु 4-8 पंक्तियों वाली तुकान्त ध्वन्यात्मक शब्दों वाली लयबद्ध कविताओं को उचित मानते हैं। आरम्भ में बाल-साहित्य बड़ों के लिए लिखे गए साहित्य के रूप में ही था फिर इन्हीं से बच्चे लाभान्ति होने लगे क्योंकि इस साहित्य में द्वयर्थकता होती थी। शनैः शनैः शिशु गीतों और बाल कविताओं ने भी जन्म लिया। बाल काव्य बच्चों की सजीव कल्पना और सहज भावनाओं की अभिव्यक्ति का सुंदर माध्यम बना। बच्चे के मन में अपने परिवेश, घर, परिवार, आसपास के माहौल और दुनिया की पहली छाप इन्हीं कविताओं से पड़ती है। ये नटखट कविताएँ केवल कविताएँ नहीं बल्कि बच्चों के लिए रंग-बिरंगे खिलौने भी हैं जिनसे वह मनमाने ढंग से खेलते हैं। हँसता है किलकता है। यहाँ तक कि उसके साथ-साथ स्वं भी रचता है और अपनी कल्पना की भूख शांत करता है-

चूहे राजा है शैतान
चलते हरदम सीना तान,
इसीलिए तो बिल्ली मौसी
खींचा करतीं उनके कान।
कलकत्ते से गाड़ी आई
टाफी, बिस्कुल, केले लाई
गाड़ी बोली ई-ई-ई...
आहा! उसने सीटी दी...।

हिंदी-बाल काव्य की यात्रा को देखें तो आदिकाल में विधिवत रूप से नहीं मिलता किंतु जगनिक की सरल सुबोध कविताओं को बालोपयोगी माना जा सकता है। अमीरखुसरो की कुछ मुकरियों और पहेलियों द्वारा भी बालकाव्य की झलक मिलती है, उदाहरणार्थ-

एक थाल मोती से भरा। सबसे सिर पर औंधा धरा।

चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उसमें एक न गिरे।।(आकाश)

भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन कवियों द्वारा लिखी गई सरल भाषा वाली कुछ कविताएँ बालकों के लिए उपयोगी हैं। साथ ही रसखान एवं सूरदास द्वारा 'श्रीकृष्ण का बाल-वर्णन' अद्वितीय है। किंतु ये सभी बालकाव्य की श्रेणी के पैमानों पर खरे नहीं उतरते। बालोपयोगी होना ।'बालकों का, उनके लिए होने में अन्तर है। बाल-कविता बाल मन के निकट की, बालक के लिए रचना होती है जबकि बालक द्वारा रचित रचना बड़ों के लिए भी हो सकती है और प्रायः होती है। बच्चे भी बड़ों से ज्यादा बात कहने की क्षमता रखते हैं। बाल कविता अपने समय के बच्चे से ही प्रेरणा के लिए होती है। उदाहरण के लिए समय विशेष की जरूरतें, प्रभाव, वातावरण इत्यादि का ध्यान होने से ही रचना सदा प्रासंगिक बनी रहती है। बाल-काव्य अर्थात् बच्चों का काव्य। बाल्यावस्था की कुछ विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ जैसे जिज्ञासा, कल्पना, रचनात्मकता, निर्देश, संयम की प्रवृत्ति, आत्म प्रदर्शन की प्रवृत्ति, अनुकरण की प्रवृत्ति, स्पर्धा, सहानुभूति, विनय और आवर्तन इत्यादि होती है। ऐसा काव्य जो इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर लिखा जाए वही बात उत्तम काव्य है। कल्पना काव्य की भाषा होती है। बाल-काव्य कल्पना वैभव से सम्पन्न काव्य है।

डॉ. प्रकाशमनु की पुस्तक हिंदी बाल कविता का इतिहास में इन्होंने मोटे तौर से बाल कविता को इन तीन चरणों में बाँटा हैः-

1. प्रारंभिक युग (1901-1947)
2. गौरव युग (1947-1970)
3. विकास युग (1971 ...)

स्वतंत्रता से पूर्व के समय में जबकि गुलामी के बंधनों को काटने के लिए, बालकों के व्यक्तित्व निर्माण की प्रेरणा से शुरू-शुरू में सायास बाल कविताएँ लिखी गई, वे देशभक्ति और 'उपदेशात्मकता के भार' अतिशय दबी हुई कविताएँ हैं । बालकाव्यकार बालक के व्यक्तित्व को आदर्शों और संस्कृति पृष्ठभूमि के अनुसार ढालना चाहता था, अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि बाल काव्य में पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई। किंतु इसी दौर में खड़ी बोली हिंदी कविता के जन्मदाताओं में से एक पण्डित श्रीधर पाठक उल्लेखनीय है। हिंदी के प्रारम्भिक बालगीतकारों में गिने जाने वाले पाठक जी ने बाल-स्वभाव, बाल-मनोवृत्ति एवं बाल मनोविज्ञान का ध्यान रखते हुए सतर्कता के साथ-साथ बाल-काव्य के लिए विषयों का चयन किया गया है। इनकी कविताओं का चंचल एवं खिलंदड्रापन खास तौर से भाता है। इस कविता में भारतीय वातावरण की गर्मजोशी और बच्चे का लगाव, उसका कल्पना-संसार दोनों ही बढ़िया ढंग से सामने आते हैं-

''बाबा आज देल छे आए,
चिज्जी-पिज्जी कछु न लाए।
बाबा क्यों नहीं चिज्जी लाए,
इतनी देली छे क्यों आए?...''

इसी दौरान विद्याभूषण विभु जी की 'घूम हाथी, झूम हाथी' बड़ी चर्चित रचना रही। विद्याभूषण विभु ने हिंदी के प्रारंभिक दौर में एक से सुंदर शिशुगीत लिखकर एक बड़े अभाव की पूर्ति की। इस काल में 'शिशु', 'बालसखा' जैसी महत्वपूर्ण बाल पत्रिकाओं ने बाल कविता को आगे ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी इस काल में बाल-काव्य के हिन्दी कविता में आगे चलकर जो रूप और प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ी- चाहे नाटकीय ढंग की कथात्मक कविताओं का चलन हो या फिर ध्वन्यात्मक प्रभावों के जरिए बच्चों के मन को रिझाने और प्रभावित करने की कोशिश, बीज रूप में ये सभी चीजें हिंदी बाल-कविता के इस दौर से आती हैं।''(प्रकाश मनु)

इस धारा में आगे का समय (1947 से 1970) यहाँ उभरी सुंदर, विविध प्रवृत्तियों को और विस्तार देने वाला रहा। हिंदी बाल कविता जितनी मुक्त और बहुरंगी इस दौर में थी, उसने जैसी अद् भुत उड़ाने भरीं और जीवन जितना खुलकर नाटकीय संवेगों के साथ इस युग की बाल कविता में आया वह अद्वितीय था। निरंकार देव सेवक, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, दामोदर अग्रवाल इत्यादि नामों ने इस दौर को बहुचर्चित एवं सदैव लुभावनी बनी रहने वाली बाल-कविताएँ दी। उदाहरणार्थ-

'इब्नबतूता पहने के जूता
निकल पड़े तूफान में

थोड़ी हवा नाक में घुस गई,
थोड़ी घुस गई कान में''...

यह 'कविता' एक अजब सी 'कॉमिक ट्रेजेडी' का आभास देती है। इसके जैसा इसका कोई दमदार पात्र बाल-काव्य में नहीं दिखता। इसी समय श्री प्रसाद जी की कविताएँ छंद और लय की उस्तादी और संपूर्णता का अहसास देती है। उदाहरणार्थ- मुर्गे की शादी का रोचक चित्र देखिए-

''ढम-ढू, ढम-ढम ढोल बजाता
कूद-कूदकर बंदर
छम-छम घूँघरू बाँध-बाँध नाचता
भालू मस्त कलंदर,
कुहू-कुहू कू कोयल गाती
मीठा-मीठा गाना,
मुर्गे की शादी में है बस
दिन भर मौज मनाना।''...

सोहनलाल द्विवेदी, सुमित्रानंदन पंत, रामधारी सिंह 'दिनकर', बालस्वरूप राही इत्यादि बाल-काव्य की तेजपूर्ण विभूतियाँ इसी समय कार्यरत थी।

दामोदर अग्रवाल रचित 'बिजली' बिजी पर लिखी सर्वोत्तम कविता इसी काल की है। बाल काव्य की यात्रा में रमेश तैलंग की यह कविता एक नया आयाम और पड़ाव देती है-

''अले छुबह हो गई
आँगल बुहाल लूँ
मम्मी के कमले की तीदें थमाल लूँ''...

इस कविता में एक निहायत वास्तविक बच्चा है और उसकी व्यस्तता के सभी कारण सच्चे हैं। यह सक्रिय और जिम्मेदार बच्चा काफी हरफनमौला है और बच्चे की एक नई छवि देता है। रमेश तैलंग की ये कविता बाल-काव्य को एक नई सोच और बदलती छवियों, प्रतीकों की ओर मार्ग दिखाने में अद्वितीय है। 1971 से अब तक का समय वह है जब एक नहीं अपितु तीन से चार पीढ़ियों के कवि एक साथ बाल-काव्य सृजन में लीन थे। इस दौर में दिविक रमेश, प्रयाग शुक्ल, चंद्रदत्त इंदु, गोपीचंद श्रीनगर इत्यादि कवि सृजन में लगे थे। यह जानना महत्वपूर्ण है कि इस दौर की कविता द्वारा पहली बार विचार तत्व का दखल दिखाई दिया तथा बच्चे पर बस्ते और पढ़ाई का बोझ तथा उसकी भीतरी दुनियाँ की उलझनें बाल-कविता में नजर आई। कई प्रमुख बाल कवियों ने इस दौर में बच्चे के लगातार भारी होते हुए बस्ते के बोझ और उससे दबकर 'मुक्ति' के लिए कातर अनुरोध करते बच्चे के कारण, मार्मिक चित्र अपनी कविताओं में उकेरे हैं। बच्चे की विवशता निहायत सच्चे और हृदयद्रावक रूप में जैसी बाल-कविता में प्रकट हुई है, वैसी शायद ही कहीं और सामने आई। इसी तरह आधुनिकता के साथ बच्चे का अकेलापन और दोस्तहीनता भी कविताओं में झलकी है। इस दौर की बाल कविता सपनों की घाटी में ही विश्राम नहीं लेती, बल्कि बदले हुए समय की मुश्किलों और आपदाओं से भी दो-चार होती हैं। हम देख सकते हैं कि बाल-कविताओं की यात्रा के दौरान प्रवृत्तियाँ, मिजाज भी बदले हैं। बाल-काव्य चाहे जैसे भी दौर से गुजरा, किंतु यह सत्य है कि कविता ने पिछले सौ बरसों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी भारतीय बचपन का मानसिक और भावनात्मक पोषण किया, उसे उन्मुक्त हँसी, उमंगे और मीठी खिलाखिलाहटें दी। बच्चों की कल्पना और जिज्ञासा-क्षितिजों का विस्तार करके उसे सहृदय इन्सान और बेहतर नागरिक बनाने की पुख्ता नींव रखी। यह कोई आकस्मिक नहीं कि कई दशकों पहले अपने बचपन में पढ़े या सुने गीत आज भी हमारी जुबान पर आते हैं; यह इन कविताओं की शक्ति ही नहीं, उस ऐतिहासिक भूमिका की ही गवाही है, जो इन बालगीतों द्वारा उस दौर में निभाई गई और कमोवेश आज भी निभाई जा रही है। बाल-काव्य से हमें बाल-मनोविज्ञान का जीवन्त सम्पर्क मिलताहै।

हिंदी बाल-काव्य हमें भाषा और संप्रेषण के विकास की नींव प्रदान करता है। ध्वनि अपने प्राकृतिक परिवेश, परम्परा और सामाजिक रहन-सहन से संयोजित होती है, अर्थात् जिस प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश में बच्चों की मानसिकता का विकास होता है,

बाल- काव्य उससे ही प्रेरित हो भाषा का विकास करता है। इस साहित्य में झांककर देखें तो हम बच्चों के स्वभाव और विकास क्रम का एक रोचक परिचय मिलता है और भाषा की वाचिक धरोहर के एक महत्वपूर्ण हिस्से को देख पाते हैं। बाल-काव्य की मौखिक धारा न जाने कब से बच्चों के भावों, सन्दर्भों जीवन परिवर्तन को गति व विस्तार देते हुए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे रही है। वर्तमान में बाल-काव्य मौखिक परम्परा के लिए दादा-दादी का सानिध्य, संयुक्त परिवार, खेल मण्डली इत्यादि माध्यमों का अभाव-सा होता जा रहा है। वहीं दूसरी तरफ विद्यालयी जीवन कड़ा होता जा रहा है। कहीं-कहीं पाठ्यचर्या में कुछ स्तर पर बालकाव्य का प्रयोग भी दिखता है किन्तु बालकाव्य परम्परा में जो फर्क आये हैं उन्हें खोजने और विचार करने की आवश्यकता है।

निष्कर्षतः हिंदी बाल-कविताओं का यह निर्विवाद गुण है कि वे सिर्फ बच्चों को संबोधित ही नहीं है, बल्कि पूरी तरह बच्चों की चीज है। बच्चों के खेलने, गाने-गुनगुनाने की चीज है। जिन पर पहला और आखिरी हक भी बच्चों का ही है। वे लिखी भले ही बड़ों द्वारा गई हों, मगर वे हैं बच्चों की चीजें। बाल-काव्य अपने 100 वर्षों की परम्परा में विविधता और मात्रा दोनों स्तरों पर गहन हुआ है। पिछले 100 वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी भारतीय बचपन का मानसिक और भावनात्मक पोषण इन कविताओं से हुआ है। हमारी 'श्रुति आधारित ज्ञान परम्परा' में भी कविताएँ अनवरत बहती-सी रही है। उन्मुक्त हँसी, उमंगे और मीठी खिल-खिलाहटों के साथ-साथ कविताओं ने बच्चों की कल्पना और जिज्ञासा-क्षितिजों का विस्तार करके उसे सहृदय इंसान और बेहतर नागरिक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

आलेख

कठोपनिषद् के संदर्भ में गुरू-शिष्य सम्बन्ध

संध्या

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य कठोपनिषद् के संदर्भ में हुए स्व एवं ज्ञान की संकल्पना का सार समझने व जानने के पश्चात् उस समझ की उपयोगिता वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था में देखने की है। यह संबंध देखने व इस पर चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले शिक्षा के उद्देश्यों पर चर्चा संक्षिप्त में की जा रही है। शिक्षा के उद्देश्यों में कुछ मुख्य उद्देश्य है- व्यक्ति को जीवन के लिए तैयार करना, व्यक्ति का सर्वांगीण विकास, एक स्वतंत्र दृष्टिकोण का निर्माण करने में सहायता करना तथा समाज के लिए एक योग्य नागरिक तैयार करना इत्यादि। इन शिक्षा के उद्देश्यों में कोई कमी नजर नहीं आती परन्तु यदि हम आस-पास के समाज, पड़ोस, राज्यों, देश और वैश्विक स्तर पर भी देखते हैं तो समाज में रोज जन्म लेती नयी-नयी कुरीतियों, बुराइयों, व्यक्तिगत, मानसिक-असंतुलन, भेदभाव, अत्याचार, कुकर्म आदि नकारात्मक ऊर्जा को अधिक दृश्य पाते हैं। ये वर्णन इस बात का संकेत है कि मनुष्य जिस प्रकार के विकास और भूमंडलीकरण की बात व प्रयास कर रहा है उसके नकारात्मक प्रभाव भी है जिन्हें शायद दूरदर्शी-दृष्टिकोण की आवश्यकता है। कठोपनिषद् के इस अध्ययन से शिक्षण-प्रणाली के कुछ महत्वपूर्ण भागों या भागीदारों के व्यक्तित्व, प्रकृति व संबंधों पर महत्वपूर्ण व उपयोगी बिन्दु मिलते हैं। शिक्षण की प्रक्रिया मुख्यतः गुरु व शिष्य के बीच होने वाली प्रक्रिया है, जिसमें बहुत सी अन्य बातों का प्रभाव भी पड़ता है।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है गुरु के समीप बैठना। गुरु से शिक्षा ग्रहण करना ही भारतीय संस्कृति की परम्परा थी। गुरु कोई भी साधरण व्यक्ति नहीं होता वह अपनी विद्या में निपुण होता है। गुरु वह है जो ज्ञान या ज्ञान का मार्ग दिखाता है। भारतीय संदर्भ में गुरु को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है, गुरु के लिए अलग-अलग समय काल व स्थान पर विभिन्न पंक्तियां भी मिलती हैं जैसे-

गुरु गोविन्द दौऊ खड़े
काकै लागू पाए।
बलिहारी गुरु आपनौ
जै गोविन्द दियो मिलाएं।।
गुरुब्र्रह्मा गुरुर्विष्णु गुर्रुर्देवोमहेश्वरः।
गुरुरेव पर ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

गुरु को गोविन्द (ब्रह्म) तक जाने का माध्यम भी माना गया है और गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश से परे ब्रह्म जाना गया है और इस आभार के साथ गुरु को नमन किया गया है। गुरु की उपाधि उसे दी जाती है जो स्वयं ब्रह्म का ज्ञाता होता है। कठोपनिषद् में भी गुरु की पात्राता का वर्णन कुछ इसी प्रकार मिलता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुध चिन्त्यमान!
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्रा नास्ति
अणीयान् ह्यतक्र्यमणुप्रमाणात्।

अर्थात् यह स्वयं किसी हीन द्वारा कहे जाने पर ज्ञात नहीं होता, क्योंकि यह बहुतो के द्वारा सोचा जाता है, जब यह किसी ऐसे गुरु द्वारा बताया जाता है जो इसके साथ हो गए हैं तब कोई संदेह नहीं रहता क्योंकि यह तर्क से परे हैं, अणु से भी परिमाण में सूक्ष्म हैं।

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को नचिकेताग्नि एवं जन्म-मृत्यु का रहस्य बताते हैं। इस ज्ञान के लिए यमराज से अधिक योग्य गुरु और कौन होगा? यमराज स्वयं मृत्यु है, जो प्रत्येक प्राणी की मृत्यु के साक्षी है। लोककथाओं के अनुसार यमराज व्यक्ति की मृत्यु के बाद आकर उसकी जीवात्मा को यमलोक ले जाते हैं जहां से उस जीवात्मा का फैसला होता है। यह कथाएं अनेक रूपों में प्रचलित है परन्तु यमराज मृत्यु के देवता ही कहे गए हैं। मृत्यु के बाद के विषय पर जिज्ञासा प्रकट करके और उस पर स्थिर रहकर नचिकेता ने अपनी शिष्य की पात्रता पर खरे उतर कर दिखाया और यमराज ने भी एक शुरु की सभी विशेषताओं का प्रदर्शन किया, बल्कि इस उपनिषद से हम गुरु की विशेषताओं के संबंध में सीख सकते हैं। यमराज ने नचिकेता को दो आरंभिक वरदान दे दिये परन्तु तीसरे वरदान की गहनता को और मूल्यता को जानते हुए यमराज नचिकेता/शिष्य की पात्रता/योग्यता की जांच के उद्देश्य से नचिकेता को कई भौतिक सुखों का, दीर्घायु आदि का प्रलोभन देकर नचिकेता की सत्य प्रियता की जांच करते हैं। जब नचिकेता प्रत्येक वस्तु, भोगों को मृत्यु-रहस्य के सम्मुख तुच्छ जानकर वही वर मांगते है। तो यमराज उसके सही शिष्य व प्रश्नकार होने की प्रशंसा करते हुए उसके फलस्वरूप वरदान प्रदान करते हैं। एक गुरु की शिष्य को परखने, उसकी समझ व क्षमताओं का स्तर देख लेने के पश्चात् शिष्य के व्यक्तित्व के अनुसार मार्ग दिखाना प्रारंभ करते हैं। यमराज नचिकेता के मृत्यु-जीवन के संबंध में स्थित अज्ञान के अंधकार से जीवात्मा व परमात्मा के ज्ञान के प्रकाश तक ले जाते हैं। यमराज ऐसा इसलिए भी आसानी से कर पाते हैं क्योंकि वे स्वयं इस ज्ञान के सर्वोत्तम ज्ञाता है। यमराज नचिकेता को सर्वप्रथम, साधक के विषय में बताते हैं और फिर स्वं / जीवात्मा के रहस्य के विषय में विस्तार से उदाहरण व समरूप झांकियों के माध्यम से बताते हैं। यमराज नचिकेता को ज्ञानार्जन की प्रक्रिया व साधनों के विषय में भी बताते हैं कि यह ज्ञान केवल स्वयं उस ज्ञान के हो जाने अर्थात् उस परमात्मा से एकाकार हो जाने पर ही सम्भव है उसके अलावा पढ़ने व सुनने से नहीं।

शिक्षण-प्रणाली का एक दूसरा महत्वपूर्ण अंग या शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण भागीदार स्वयं 'शिष्य' है। जिस प्रकार एक गुरु की कुछ विशेषताएं बताई गई है उसी प्रकार एक शिष्य की भी कुछ विशेषताएं हैं। एक अच्छे शिष्य का होना एक गुरु के लिए भी आनन्द का पर्व होता है क्योंकि एक शिष्य के माध्यम से गुरु एक बार फिर ज्ञान की सीढियों को चढ़ता है और महानता को प्राप्त होता है। शिष्यों को विभिन्न प्रकार होते हैं, परंतु उनकी एक विशेषता सभी शिष्यों में समान होती है वो है सीखने, ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा। एक शिष्य को योग्य गुरु की खोज करके, उस गुरु की चयन परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है परन्तु महाकाव्यों व लोककथाओं में गुरु-शिष्य, संबंधें की श्रृंखला देखने को मिलती है। एकलव्य ऐसे ही शिष्यों की श्रृंखला में से एक है, जिसके गुरु द्रोणाचार्य को यह भी ज्ञात नहीं होता कि उनका एक शिष्य बिना दीक्षा ग्रहण किए ही अपनी दृढ़निश्चयी प्रवृत्ति, जिज्ञासा व धुन में धनुर्विद्या का पाठ ले रहा है और विश्व का सबसे बड़ा धनुर्धर बन चुका है। एकलव्य जैसे शिष्य असाधरण गुरुभक्ति के उदाहरण है जिसके लिए गुरु की भौतिक उपस्थिति, उपदेश आदि की भी आवश्यकता नहीं।

कठोपनिषद् में नचिकेता भी दृढ़निश्चय, जिज्ञासा व ज्ञान के प्रति अभेद्य रुचि का प्रदर्शन कर यमराज से ज्ञान प्राप्त कर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे शिष्यों को पाकर यमराज जैसे गुरु भी प्रशंसा किये बिना नहीं रहते।

नैषा तर्केण मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यध्तिर्बतासि
त्वादृघ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।।

यमराज नचिकेता को उसकी श्रेयस के प्रति श्रद्धा के लिए प्रशंसा करते हैं यह कहकर की ऐसा प्रश्नकार /शिष्य सभी को मिले।

एक विद्यार्थी/शिष्य की कुछ विशेषताएं जो नचिकेता के चरित्रा व कठोपनिषद् से हमें मिलती हैं कि एक विद्यार्थी श्रद्धावान होना चाहिए, जिस प्रकार अपने पिता वाजश्रवस को दान में अयोग्य वस्तुएं व पशु दान करते देख नचिकेता ने बिना भय के सत्य को पिता के सम्मुख रखा। उसी प्रकार एक शिष्य को अपने सत्य में श्रद्धा का होना आवश्यक है। अन्य गुण जो एक शिष्य को ज्ञान के मार्ग पर आगे ले जाता है वह है विवेक, यह वह गुण है जो व्यक्ति को अच्छे और श्रेष्ठ के मध्य अन्तर करने की क्षमता को दर्शाता है। नचिकेता के समान ही हम सभी के सम्मुख प्रतिक्षण नयी-नयी अवस्थाओं के रूप में कुछ विकल्प उपस्थित रहते हैं जिनमें से हमें एक समय में एक का ही चुनाव करना होता है। अच्छे और बुरे में से चुनना सरल है परन्तु व्यक्ति विवेकरहित होकर अच्छे को ही श्रेष्ठ मान कर उसे चुन लेता है। यह विवेक हम सभी में है परन्तु मन व इन्द्रियों को अनियंत्रित होना इसके लिए बाध है। श्रेष्ठ को चुनकर ही इस ज्ञान मार्ग पर आगे बढ़ना संभव है।

दृढ़- निश्चयी तथा श्रेष्ठ की कामना निरन्तर करना ही एक सुयोग्य शिष्य की पहचान है जो शिष्य सद्बुद्धि द्वारा यह जान लेता है कि प्रेयस क्षणभंगुर है और श्रेयस शाश्वत फिर वह प्रेयस प्राप्ति से संतुष्ट नहीं रह पाता। नचिकेता ने भी प्रलोभनों का मोह न करके श्रेयस की निरंतर कीमांग बिना अपना पथ छोड़े । आत्मविश्वास तथा श्रेयस् की इच्छा होना ही एक शिष्य के लक्षण हैं। प्रिय वस्तु जल्दी, बिना अधिक परिश्रम के मिल सकती है परन्तु श्रेष्ठ ज्ञान में विलम्ब और अधिक परिश्रम होना भी एक चुनौती व संयम की परीक्षा है। नचिकेता के ही समान हर शिष्य को आत्मावलोकी होना अनिवार्य है जिससे वह यह जान सकें कि वह विकास की ओर उन्मुख है क्योंकि समय बीतते हुए इन्द्रियां व मन कब अपना नियंत्रण खोने लगते है पता नहीं लगता इसलिए आत्मावलोकन व प्रतिक्षण अभ्यास का होना अत्यावश्यक है। हमारी वर्तमान शिक्षण-प्रणाली एवं विद्यालयी क्रियाओं में अधिगम-शिक्षण प्रक्रिया में, पाठ्यपुस्तकों, पाठ्यचर्या एवं प्रच्छन्न-पाठ्यचर्या तक में पारदर्शिता और स्नेही वातावरण का होना अत्यंत आवश्यक है। यदि शिक्षकों व विद्यार्थियों में आपसी संबंध् भय, अध्किार, शक्ति, नम्बरों और परीक्षा पर आधरित न होकर प्रेम, अधिगम, समझ, विश्वास, अभ्यास व सम्पूर्ण स्वीकार्यता का होगा तो शिक्षण-प्रणाली के कई रोगों जैसे तनाव, अधिगम की कमी, सु-नागरिकों के निर्माण में बाधा, मानसिक रोग तथा दबाव और दुख आदि से छुटकारा पाया जा सकेगा। इस प्रकार की शिक्षा का पक्ष कभी दार्शनिकों व शिक्षाशास्त्रियों ने भी लिया है जैसे रविन्द्रनाथ टैगोर जो शिक्षण में सम्पूर्णता को प्रकृति का स्पर्श देने पर जोर देते हैं। उनके अनुसार कक्षाएं प्रकृति व प्राकृतिक वातावरण में ही होनी चाहिए। यदि ऐसा सम्भव ना भी हो पाए तो जितना अधिक हो पाएं उतनी प्राकृतिक यात्राएं करनी चाहिए, जिसमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु प्रकृति का ही अभिन्न अंग है।

गांधी जी ने अपनी शिक्षण-प्रणाली नयी-तालिम में तथा अपने सामान्य शिक्षा संबंधी विचारों में शारीरिक, मानसिक। आध्यात्मिक शिक्षा को बल दिया। गांधीजी ने तो पाठ्यपुस्तकों के संबंध में यह भी कहा कि एक अच्छा शिक्षक हो तो वहीअपने चरित्र-प्रस्तुतिकरण द्वारापाठ्य-पुस्तकों की भूमिका निभाता है ।

श्री कृष्णमूर्ति व श्री अरविंद के विचार भी इन्हीं विचारों के समान है जिनमें प्राकृतिक-शिक्षण, शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक प्रशिक्षण को बल दिया है। श्रीमान श्री अरविंद के विचारों को ही आगे सूक्ष्म तरीके से बढ़ाते हुए कहती हैं कि बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक शिक्षा, प्राण की शिक्षा, चरित्रा-निर्माण, इन्द्रियों का प्रशिक्षण, मानसिक-शिक्षा, मन का प्रशिक्षण एवं चैत्य एवं आध्यात्मिक शिक्षा बच्चों के अनुसार शिक्षण में सम्मिलित किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों के साथ व्यवहार, उनके प्रशिक्षण प्रगति एवं उपलब्ध्यिों की वृद्दि की जाने में सहायता व उचित वातावरण प्रदान किया जाना चाहिए। इन सभी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हमें वर्तमान शिक्षण-प्रणाली और स्व के स्तर पर भी 'चैत्य' एवं 'आत्म' तत्त्व को अपनी जीवनचर्या में महत्त्वपूर्ण स्थान देना। चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा से एक संतुलित व्यक्तित्व, जीवन व संसार के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाला शिष्य-चरित्र निर्माण होगा। ऐसी विषम-सांस्कृतिक परिस्थिति वाले देश में यह आध्यात्मिक तत्त्व और भी आवश्यक एवं हितकर है।

विद्यार्थियों के लिए अधिगम ही पूर्ण नहीं है बल्कि अपने जीवन में अधिगम के लिए अधिगम ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ताकि विद्यार्थी अपने भीतर के गुरु को जानकर हर क्षण सही पैफसला ले। विद्यार्थियों के जीवन के लक्ष्य और शिक्षा के उद्देश्य एक ही रेखा में होने चाहिए जिससे शिक्षा की सम्पूर्ण प्रासंगिकता का महत्व विद्यार्थियों को ज्ञात हो। जिस भी क्रिया में विद्यार्थी संलग्न हो उसका पूर्ण उद्देश्य उसे होना चाहिए जिससे निरर्थकता का भाव विद्यार्थी के मन में न आएं।

श्रीकृष्णमूर्ति के अनुसार स्वज्ञान के द्वारा सही-अर्थपूर्ण सोच तक जाया जाता है। और इससे संरचनात्मकता व प्रगति की ओर रूपांतरण व्यक्तिगत स्तर से शुरू होता है इसलिए भी विद्यालयी, समय पर आध्यात्मिक शिक्षा का होना आवश्यक है। कृष्णमूर्ति के अनुसार सही कार्य के लिए सम्पूर्ण की समझ का होना आवश्यक है और इसकी शुरुआत स्व से करनी चाहिए। एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात श्रीकृष्णमूर्ति ने ये कही की स्वज्ञान कोई पारम्परिक धर्म नहीं है यह स्वधर्म हैं।

आलेख

शिक्षा एवं जेंडर के प्रश्न

सुप्रिया पाठक

पिछले दो दशकों में महिला साक्षरता दर में वृद्धि राष्ट्रीय विकास (National Growth) के सूचक के रुप में दर्ज होती रही है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीय स्तर पर स्कूलों में लड़कियों के ज्यादा से ज्यादा दाखिले सुनिश्चित कराना तथा उनकी शिक्षा अनवरत जारी रखना शिक्षा नियोजन का आधारभूत लक्ष्य बन गया है। भारत जैसे बड़ी आबादी वाले देशों के लिए विकास और शिक्षा से जुड़ी नीतियों को तय करने में इस तथ्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उदाहरणार्थ,भारत सरकार द्वारा संचालित सर्व शिक्षा अभियान का लक्ष्य शुरुआती वर्षो में स्कूली शिक्षा से वंचित 5,9000000 लाख बच्चों को विद्यालयों में दाखिला कराना था। इसमें लगभग 3,5000000लड़कियां थीं । वर्तमान में सर्व शिक्षा अभियान के प्रयासों तथा स्कूलों के ढाँचों में विस्तार के कारण लगभग 98% बच्चों का नामांकन सुनिश्चित हो पाया है। सर्व शिक्षा अभियान में एक महत्वपूर्ण रणनीति के रुप में बच्चियों के दाखिले पर विशेष जोर था जिसके कारण प्राथमिक शिक्षा में नामांकन के स्तर पर जेंडर आधारित अंतर उल्लेखनीय रुप से कम हुआ है जो बालिका शिक्षा के प्रति समाज के बदलते नजरिये के प्रति आशान्वित करता है। बावजूद इसके ,इस बिंदू से जुडे अन्य पहलुओं पर भी चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है।

स्कूलों में लड़कियों की उपस्थिति सुनिश्चित करने के साथ ही यह मान्यता अंतर्निहित होती है कि यदि लड़कियां लगातार ऐसे ही पढ़ती रहें तो उनका सशक्तीकरण खुद-ब-खुद हो जाएगा,स्कूली शिक्षा उन्हें समाज में अपनी स्थिति को समझने एवं जीवन के नए विकल्प तलाशने में मददगार साबित होगी, परंतु यह अंशतः सत्य है। क्योंकि सिर्फ शिक्षा लड़कियों को सशक्त नहीं कर सकती और ना ही उन्हें नई भूमिकाओं के लिए तैयार कर सकती है। दूसरे संस्थानों की तरह, स्कूली शिक्षा भी स्थापित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्रचना करती है और मौजूद सत्ता संबंधों को बरकरार रखती है। अतः लड़कियों की शिक्षा पर बात करते समय यह जानना आवश्यक है कि यह सशक्तिकरण के दावों के केंद्र में किन लक्ष्यों एवं मूल्यों को समेटे हुए है। दरअसल हमारी सामाजिक संरचना का पूरा ताना-बाना स्त्री पुरुष संबंधों में असमानतापूर्ण व्यवहारों पर बुना गया है जो इस व्यवस्था को जैविकीय आधार पर न्यायसंगत बताने का प्रयास करता है । जेंडरीकरण की इस प्रक्रिया के तहत पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व की रचना, पुनर्रचना तथा संबंधों का निर्वाह किया जाता है । जेंडरीकरण को अवधारणा के स्तर पर समझने का सबसे पहला प्रयास 1984 में जिल मैथ्थूस द्वारा किया गया था जिसमें उन्होंने नारीत्व के ऐतिहासिक संरचना का अध्ययन किया था। मैथ्थूस के अनुसार, "जेंडर के सामाजिकीकरण की प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है कि प्रत्येक समाज स्त्री तथा पुरुष के मध्य विभाजित है तथा लगातार इस विभिन्नता को संस्कृति, विचारधारा तथा व्यवहार के द्वारा बनाए रखा जाता है। स्त्री तथा पुरुष के बीच संबंध में तार्किक रूप से यह आवश्यक नहीं है कि जेण्डरक्रम श्रेणीबद्ध, असमानतापूर्ण या शोषणकारी होना चाहिए।"

यह सतत चलनेवाली प्रक्रिया है न कि कोई ऐसी अवधारणा जो बिल्कुल तैयार हो या जिसमें उसकी तयशुदा परिभाषा में बदलाव संभव न हो। इसके अनुसार, वह प्रत्येक प्रक्रिया लैंगिक पूर्वाग्रहों/जेंडरीकरण की प्रक्रिया है जिसमें स्त्री तथा पुरुष के बीच के भेद को

लगातार पैदा किया जाता है तथा उसे बनाए रखा जाता है। 'जेंडरीकरण' या 'जेंडर पूर्वाग्रहों से युक्त' अवधारणाओं के द्वारा सामाजिक संरचना के तहत पुरुष को स्त्री से ऊपर माना गया है। ऐसे असंख्य शोधों के उदाहरण मौजूद हैं जो संस्कृतियों, संस्थानों तथा संगठनों के जेण्डर चरित्र को व्याख्यायित करते हैं। शिक्षा के माध्यम से स्त्रियों के सशक्तिकरण के दावों की पड़ताल भी इन्हीं सदर्भों में करने की आवश्यकता है। शिक्षा और स्त्री सशक्तिकरण का आसानी से कोई अंतर्संबंध नहीं होत। शिक्षा या स्कूल जाने का अर्थ है - सार्वजनिक स्थलों पर आना जाना ,पुरुषों के साथ बातचीत ,लड़कों की तरह सामाजिक होना (पाठ्यक्रम के माध्यम से) बावजूद इसके पूरा जोर यौन नियंत्रण के इर्द गिर्द ही होता है । प्राइमरी शिक्षा के दौरान मिलने वाली स्वतंत्रता धीरे धीरे खत्म होती जाती है और लड़कियों का दायरा सिमटने लगता है। इस प्रवृति की झलक हमें शिक्षा व्यवस्था में प्राइमरी से उच्च शिक्षा तक लड़कियों की संख्या में लगतार होती कमी के रुप में देखने को मिलती है।

लड़कियों की यौनिकता पर नियंत्रण ही वह कारक है जो यह सुनिश्चित करता है कि वे शिक्षित हों या नहीं । यदि हाँ तो उसका स्तर, ढंग, और वक्त क्या हो? शिक्षित होने के उपरांत वो क्या कार्य करें ? दरअसल पाठ्यक्रम स्त्री की यौनिकता को नियंत्रित करने वाले मूल्यों एवं समाज में लैंगिक श्रम विभाजन को बनाए रखने वाले मूल्यों पर प्रश्न खड़े करने के उद्देश्य से तैयार ही नहीं किए जाते हैं। आमतौर पर यह धारणा है कि विद्यालय सीखने-सिखाने का एक स्थल है जिसके दायरे में वे समस्त संस्थान शामिल है जो औपचारिक-अनौपचारिक अथवा धार्मिक आधार पर इस प्रक्रिया में शामिल होते हैं । अर्थात सीखना एक जटिल संरचनात्मक प्रक्रिया है जो वर्ग,धर्म,लिंग, जाति तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं से प्रभावित होती है। नारीवादी सैद्धांतिकी के अनुसार,विद्यालय दरअसल अपनी पूरी प्रक्रिया में 'स्त्री' और 'पुरुष' भी गढ़ते हैं। समाज में स्कूलों द्वारा तैयार 'स्त्रीत्व'तथा 'पुरुषत्व' के तथ्यपरक विश्लेषण के उपरांत यह पता चलता है कि शिक्षा एवं राष्ट्र किस तरह जहाँ एक तरफ एक खास तरह के अतीत की रचना करते हैं, वहीं दूसरी तरफ एक आदर्श नागरिक की रचना भी करते हैं,जिसकी झलक हमें पाठय पुस्तकों में देखने को मिलती है। इसी क्रम में राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न स्वाभाविक रुप से जेंडर के साथ जुड़ा जाता है। बनते हुए राष्ट्र की परियोजना में स्त्रियां राष्ट्र और समुदायों की सीमा को तय करती हैं। इसलिए शिक्षा, जेंडर, तथा राष्ट्र के अंतर्संबंध को रेखांकित करना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

जेंडर का मसला समाज में स्त्री पुरुषा सत्ता संबंधों के साथ गहरे रुप से जुड़ा हुआ मसला है जिसका अन्य सामाजिक संस्थाओं यथा जाति, जनजाति, धर्म, वर्ग इत्यादि के साथ भी जुडाव है। इसलिए शिक्षा के विमर्श में जेंडर के इन आयामों को बुनियादी एवं सैद्धंतिक तौर पर जोड कर देखने की आवश्यकता है। स्कूलों में पठन-पाठन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में विद्यार्थियों की उपस्थिति तथा उनके कक्षाओं में प्रदर्शन के आधार पर विकास के मानक गढे जाते है जबकि विद्यालयों के भीतर होने वाली अन्य शैक्षिक गतिविधियों,खेलकूद , शिक्षक - शिक्षिकाओं का बर्ताव तथा उनके अनुभवों को प्रायः नजरअंदाज किया जाता है। अब तक दी जाने वाली शिक्षा की विषयवस्तु क्या है, स्त्रियों के जीवन पर शिक्षा का क्या प्रभाव पड़ा है, ज्ञान क्या है, उसका निर्माण कौन करता है तथा किसके द्वारा निर्मित ज्ञान मुख्यधारा में शामिल किया जाता है ऐसे तमाम पहलू शोध की दृष्टी से अछूते हैं।

ब्रॉनविन डेवीज का लेख 'बिकमिंग मेल ऑर फीमेल ' इस लिहाज से अहम है कि यह लिंग सेक्स ((जैविक व्यक्तित्व)) तथा जेंडर (सामाजिक व्यक्तित्व) के बुनियादी बंटवारे पर अपने शोध के जरिए प्रश्न खड़े करता है। डेवीज प्राकृतिक तथा समाजिक को नए सिरे से परिभाषित करती हैं। उनकी दृष्टि में यह एकतरफा प्रक्रिया नहीं है । प्री स्कूल के बच्चों पर अध्ययन के माध्यम से वे ठोस रुप में इस बात को स्थापित करती हैं कि स्त्री या पुरुष बनने की प्रक्रिया में बच्चों की अपनी 'एजेंसी' होती है। शिक्षा व्यवस्था जेंडर के साथ गुंथकर किस प्रकार यौनिकता आधारित पहचान गढती है , वे इसकी भी पड़ताल करती हैं। उमा चक्रवर्ती द्वारा लिखित आलेख मेन ,विमेन एण्ड इम्बैटल्ड फैमिली में जेंडर को आकार देनेवाली बाहरी प्रक्रियाओं से ध्यान हटाकर परिवार से सीधे तौर पर जुड़ी सामाजिक प्रक्रियाओं की ओर ध्यान खींचा गया है। वे मानती हैं कि लडकियोंके 'स्कूलिंग' के लिए शिक्षा की आवश्यकता दरअसल औपनिवेशिक काल में घर को नया अर्थ दिए जाने के साथ प्रत्यक्षतः जुडी थी। 'डॉटर्स ऑफ आर्यावर्त' नामक अपने लेख में मधु किश्वर विभिन्न घटनाओं के माध्यम से स्त्री शिक्षा के लिए चली बहसों का एक स्केच तैयार करती हैं ।

विभिन्न आयोगों की रिपोर्टों के माध्यम से भी स्त्री शिक्षा के तत्कालीन परिदृश्य को समझा जा सकता है। 1869-70 की पंजाब शिक्षा आयोग रिपोर्ट के अनुसार लड़कियों की शिक्षा सिर्फ धार्मिक ग्रंथों को पढने तक ही सीमित थी जबकि लड़कों को धर्मनिरपेक्षता तथा बही खातों का हिसाब किताब भी पढाया जाता था।1884 के शिक्षा आयोग (हंटर कमीशन) ने यह पाया था कि 1865 - 66 में सरकारी निरीक्षण में चलनेवाले बालिका विद्यालयों की संख्या 1,029 थी जो 1881-1882 में घटकर 317 रह गई । द एजुकेशन ऑफ विमेन इन इंडिया' के अनुसार, औपनिवेशिक भारत में लड़कियों की शिक्षा का मकसद यह नहीं था कि उन्हों रोजगार के लिए तैयार किया जाए बल्कि तत्कालीन शिक्षा का उद्देश्य उन्हें एक अच्छी गृहणी के रुप में तैयार करना था। शिक्षा आयोग के 1880 की रिपोर्ट के अनुसार तब तक के बालिका विद्यालयों में सिर्फ निम्न तथा मध्य वर्ग की लडकियों को ही स्कूल भेजा जाता था।

एजुकेशन एण्ड डोमेस्टीसिटी' नामक अपने लेख में गिलियन पास्कल तथा रोजर कॉक्स ने इस मान्यता को समझने का प्रयास किया है कि स्त्रियों की शिक्षा पर लैंगिक आधार वाले ढांचों का वर्चस्व है, खासकर वे स्त्रियों के लिए घरेलूपन तथा कम पारिश्रमिक वाले कार्यों की भूमिकाओं का पुनरुत्पादन करते हैं। 1964-66 में प्रकाशित कोठारी आयोग रिपोर्ट देश की वर्तमान शैक्षिक स्थिति का संक्षिप्त मूल्य-निर्धारण करने तथा शैक्षिक विकास का एक समग्र कार्यक्रम प्रस्तुत करने से संबंधित है जिसमें बालिकाओं की शिक्षा पर चर्चा करते हुए ज्यादातर ध्यान उनकी संख्यात्मक वृद्धि पर केंद्रित किया गया है । इस समिति ने स्त्रियों की शिक्षा की समस्या को हल करने के उद्देश्य से बनी राष्ट्रीय स्त्री शिक्षा समिति तथा नियुक्ति समिति तथा अन्य समितियों का अनुमोदन भी किया था। इसके साथ ही, इस समिति ने स्त्री शिक्षा के संदर्भ में कई महत्वपूर्ण सिफारिशें भी की हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में ' सबके लिए शिक्षा' को अनिवार्य प्रस्थान बिंदू बनाया गया है। जिसमें महिलाओं की शिक्षा पर बल देते हुए यह कहा गया कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था ऐसे प्रभावी दखल करेगी जिससे सदियों से चली आ रही स्त्रियों के प्रति अबला की भावना को खत्म किया जा सकेगा और वो सही मायने में ' सशक्त' हो सकेंगी। महिलाओं में साक्षरता के प्रसार को बढावा देना तथा उन सभी गतिरोधों को दूर करना जिसके कारण महिलाएं शिक्षा से वंचित हो जाती हैं ,भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति का महत्वपूर्ण एजेंडा था परंतु इसका जोर भी संख्यात्मकता पर अधिक दिखाई देता है 1982 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्रकाशित ' स्टेटस ऑफ विमेन थ्रू करिक्यूलमरएलिमेंट्री टीचर्स हैंडबुक ' में पाठय-पुस्तकों की विषयगत समस्याओं पर ध्यान आकर्षित कराया गया है । साथ ही, पाठयचर्या एवं पाठय पुस्तकों के अंतर्वस्तु में परिवर्तन को समाज में स्थापित जेंडर असमानता को बहुत हद तक समाप्त करनेवाले तथा लड़कियों की शिक्षा में बढोतरी करनेवाले कारक के रुप में रेखांकित किया गया है।

बेशक शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964 से 66) स्त्री शिक्षा के संबंध में एक ऐतिहासिक परिवर्तन की तरह थी। इस रिपोर्ट ने जेंडर भेदभाव को सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्मिति बताते हुए महिलाओं को मातृत्व के दायरे से बाहर निकालकर 'कैरियर' चुनने का विकल्प दिया लेकिन इसने शिक्षा के सरोकारों को उन शहरी मध्यम वर्गीय महिलाओं तक केंद्रित कर दिया जो उनके विचार से राष्ट्र के निर्माण में योगदान कर सकती थीं। महिलाओं को भविष्य के नागरिक के रुप में विकसित करने के विचार ने असमानता की समस्या को हल नहीं किया। शिक्षा की प्रक्रियाओं में समता विशेष तौर पर जेंडर आधारित समतामूलक संबधों को हम किस रुप में परिभाषित करें , इसपर भी विशेष चर्चा नहीं हो पाई। जेंडर समानता को व्यापक आयामों से समझने की बजाय उसे जेंडरगत रुढ छवियों तथा समान अवसर उपलब्ध कराने की बहसों तक सीमित मान लिया गया ।चौथी पंचवर्षीय योजना में (1969-74) भी स्त्री शिक्षा के मुद्दे को इस सोच के साथ आगे बढाया गया कि इससे जनसंख्या को कम करने तथा जेंडर आधारित भेदभाव को समाप्त करने में सहायता मिलेगी। इसके उपरांत 1975 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करने के कारण भारत में शिक्षा मंत्रालय द्वारा भारत में महिलाओं की स्थिति पर अध्ययन करने के लिए एक समिति का गठन किया गया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य को रेखांकित किया कि सामाजिक मूल्यों एवं व्यवहारों के कारण औपचारिक शिक्षा बदलाव लाने में विफल रही, यदि कुछ हुआ तो यह कि शिक्षा ने महिलाओं के मध्य वर्ग विभेद को और गहरा किया। वहीं राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने यह सुझाया कि महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए शिक्षा को एक एजेंट के रुप में इस्तेमाल करना चाहिए। साथ ही, उसने पाठ्य पुस्तकों में भी विभिन्न स्तरों पर परिवर्तन करने के सुझाव दिए।

सन 2000 में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रुपरेखा में भी कई महत्वपूर्ण बिंदू उभर कर आये जो काफी बहसतलब थे। इसमें जेंडर का मुद्दा अलग थलग ही रहा । एनसीएफ 2000 ने जेंडर के मुद्दे को भारतीय परंपरा और पश्चिमी परंपरा के बीच बांट दिया । दिप्ता भोग के अनुसार ,

परंपराओं की सीमाओं में एनसीएफ समानता के विचार को बहुत सफाई से उस विकृत शिक्षा ढांचे में समाहित कर लेता है जिसमें महिलाओं को मुख्यतः उत्पादक के रुप में देखा जाता है। इसलिए विचारधारा,सामाजीकरण एवं शिक्षा में अंतर्निहित तत्वों के मध्य संवाद की आवश्यकता है जिसके जरीए जेंडर समानता आधारित शिक्षा व्यवस्था कायम की जा सकती है । तभी शिक्षा के माध्यम से स्त्री सशक्तीकरण के दावे को सही मायनों में चरितार्थ किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. Report on popular education in the Punjab, 1869-70, page 30.
2. Report on the education of the women in India, 1992.
3. Kishwar Madhu , The daughters of Aryavarta Indian Economic & Social History Review June 1986, 23: 151-186,
4. Chakrawarti uma, 1998, Rewriting History : The life and times of Pandita Ramabai , Zubaan : New Delhi
5. ब्रॉनविन डेवीज का लेख 'बिकमिंग मेल ऑर फीमेल
6. मधु किश्वर, 1986, 'आर्य समाज एंड विमेन एजुकेशन ,ई पी ड्ब्ल्यू , अंक 17,
7. एस.ऐकर(1987), 'फेमिनिस्ट थ्योरी एंड द स्टडी ऑफ जेंडर एण्ड एजुकेशन, इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ एजुकेशन, 33(4), 419 435
8. ए. ओकली, 1974, हाउसवाइफ, लंदन, एलेन लेन
9. जी. पास्कल व आर. कॉक्स(प्रकाश्य)विमेन रिटर्निंग टू हायर एजुकेशन्न, मिळ्टन केंस, ओपेन यूनिवर्सिटी प्रेस,
10. कोठारी आयोग रिपोर्ट , 1964 66 , भारत सरकार दस्तावेज
11. राष्ट्रीय शिक्षा नीति ,1986, भारत सरकार दस्तावेज
12. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद,1982'स्टेटस ऑफ विमेन थ्रू करिक्यूलमरूएलिमेंट्री टीचर्स हैंडबुक, नई दिल्ली
13. सूसी थारु एवं के. ललिता , 1991 , विमेन राइटिंग इन इंडिया, 600 बीसी टू प्रेजेंट ,खण्ड 1, दिल्ली,ऑक्स्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,
14. अहवान,सर्व शिक्षा अभियान बुलेटिन, अंक 35 ,2006
15. जेंडर एवं शिक्षा,भाग 1,निरंतर, नई दिल्ली

आलेख

हिन्दी महिला लेखिकाओं की रचनाओं में स्त्री विमर्श एवं उसके शैक्षिक निहितार्थ

नेहा गोस्वामी

पिछले कुछ दशकों में स्त्रीवादी विमर्श ने एक उभरती हुई प्रक्रिया के रूप में अपना एक विशेष स्थान बनाया है। सभी क्षेत्रों में चाहे वह राजनीतिक हो, शैक्षिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक हो, किसी न किसी रूप में स्त्री मुद्दों से संबन्धित बहस होती रही है और एक प्रकार के विमर्श ने जन्म लिया। स्वतन्त्रता के बाद से ही स्त्री से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर आवाज़े उठने लगी, घर से बाहर तो वे आज़ादी से पहले भी निकलती थी परंतु अब उनमें आत्म–सम्मान की चेतना पैदा होने लगी। वह रोजगार, प्रेम विवाह, काम संबंध आदि को अपने ही निर्णय क्षेत्र में रखने लगी। स्त्रियों ने आत्मनिर्भरता के महत्व को समझा, परिणामस्वरूप वह उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। विविध क्षेत्रों में उसकी भागीदारी और सफलता के उदाहरण दिखाई देने लगे। स्त्री जब बौद्धिक रूप से अधिक समर्थ होने लगी तो वह किसी भी मुद्दे को अधिक गहराई से जानने समझने का प्रयास करने लगी। जब स्त्री स्वयं खुद से जुड़े मुद्दों को समझने का प्रयास करती है, अपनी स्थिति के पीछे के कारणों को जानने की कोशिश करती है, उसके बारे में सोचती है, बोलती है, लिखती है, तब जो विमर्श जन्म लेता है वही 'स्त्री विमर्श'है।

परंतु स्त्री का सिर्फ जानना और समझना ही काफी नहीं है, उसे समाज के द्वारा प्रदत्त छवि को तोड़कर आगे आना होगा। सदियों से जिन मानकों पर स्त्री को नापा जाता रहा है और जिस खास साँचे में डालकर देखा जाता रहा है कि यह एक आदर्श स्त्री है या नहीं, उन मानकों व साँचो को तोड़ना होगा। हमारे संविधान के अनुच्छेद 15(1)ए, 16(1) एवं 16(2) में उल्लेख है कि किसी भी नागरिक से लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा।

प्रकृति ने स्त्री एवं पुरुषों को भिन्न बनाया है। किन्तु समाजिक व्यवस्था ने स्त्री को पुरुष से हीनतर समझा। उसके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार रखा, उसका शोषण किया। जब स्त्री पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के रवैये को समझने लगी तो पहले दबे स्वर में और फिर प्रकट रूप से इसका विरोध किया। इस संबंध में राजेन्द्र यादव कहते है कि "जो प्राकृतिक विशिष्टताएं हैं, वे शर्मनाक नहीं, शर्मनाक रोपित मानदंड है जो दोहरे है और जिन पर पुनर्विचार होना चाहिए ताकि विकास के अवसर सबको समान मिल सके"।

हर जगह पुरुष वर्ग स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करना चाहता है। वर्तमान में स्त्री सशक्तिकरण की बात की जाती है। वह हर क्षेत्र में कंधे से कंधा मिलकर कार्य कर रही है, परंतु एक कटु सत्य यह भी है कि उनके खिलाफ हो रहे अत्याचारों में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। 3 साल की बच्ची से लेकर 80 साल की बुढ़िया तक बलात्कार की शिकार हो रही है। और उस पर हमारे राजनेताओं के बयान यह साफ दर्शाते है कि समाज में स्त्रियों को लेकर कैसी मानसिकता है। 16 दिसम्बर का निर्भया कांड, अंबेडकर कॉलेज की महिला अध्यापिका द्वारा आत्महत्या, कन्या भ्रूण हत्या, एसिड अटैक इस अनवरत क्रम का हिस्सा है। लिंगानुपात घटता जा रहा है, कारण, समाज वैचारिक स्तर पर विकसित नहीं हुआ है।

पिछले कुछ दशकों में महिलाओं ने पुरुष वर्चस्ववाद के खिलाफ मोर्चा कायम किया। हिन्दी साहित्य लेखन में भी जहां कुछ दशकों पहले स्त्री रचनाकारों में मीरा, महादेवी वर्मा , मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, जैसे दो चार नाम ही स्थापित थे वहाँ अचानक से साहित्य पटल पर चित्रा मुदगल, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, अलका सरावगी, अनामिका, उषा प्रियम्वदा, नासिरा शर्मा, ममता कालिया, प्रभा खेतान जैसी सशक्त महिलाओं ने नयी ऊर्जा के साथ अपनी एक खास जगह बनाई। इन रचनाकारों को पढ़ते हुए कुछ प्रश्न मन में सहज ही उभरते है जो शोधकार्य का आधार रहे-

- स्त्री विमर्श क्या है?
- साहित्य के द्वारा स्त्री जीवन की समस्याओं को किस प्रकार समझा जा सकता है?
- हिन्दी उपन्यासों में चित्रित स्त्री पात्रों की आज के समय में क्या प्रासंगिकता है?
- लिंगीय भेदभाव, किस प्रकार स्त्री पात्रों के जीवन को प्रभावित करता है?
- शिक्षा का इन स्त्री पात्रों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?
- क्या नारी की स्थिति में परिवर्तन हुए है अथवा नहीं? उन परिवर्तनों के पीछे क्या कारण रहे?

शिक्षा व्यवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन किए जाए जो स्त्रियों के लिए बेहतर जीवन में योगदान दे।

इस शोधकार्य में शिक्षा जगत में जेंडर एवं स्त्री संबन्धित उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान की दिशा में विचार किया गया है जिसके उद्देश्य निम्नलिखित है-

1. हिन्दी उपन्यासों में महिला लेखिकाओं के स्त्री विमर्श का अध्ययन करना।
2. उपन्यासों में स्त्री विमर्श से संबन्धित विभिन्न पहलुओं की पहचान करना एवं उनका गहन अध्ययन करना।
3. अध्ययन के आधार परशिक्षा व्यवस्था में पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्य पुस्तकों में जेंडर संवेदना के लिए सुझाव देना।

इस शोध के लिए वर्णनात्मक विधि को चुना गया। प्रस्तुत शोध में ऐसे साहित्य का चयन किया गया है जो स्त्रियों द्वारा पिछले तीन दशकों में लिखा गया है और जो स्त्री के अस्तित्व, उसकी अस्मिता, उसकी शिक्षा, उसके कार्य करने की स्वतन्त्रता, असामाजिक तत्वों से सुरक्षा आदि से जुड़े मुद्दों को उठाता है और समाज की लिंगभेदी मानसिकता की पोल खोलता है। यह साहित्य स्त्री-विमर्श के संदर्भ में विश्लेषण का आधार प्रस्तुत करता है। वर्णनात्मक विधि का प्रयोग विश्लेषण किए गए साहित्य के विवेचन में उपयोगी होगा, इसलिए इस विधि को चुना गया। प्रस्तुत शोध के लिए अध्ययन इकाई हिन्दी महिला लेखिकाओं द्वारा लिखित उपन्यास है, जिसमें मुख्य पात्र स्त्री है। इन उपन्यासों में स्त्री-विमर्श से संबन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। प्रस्तुत शोध में प्रतिदर्श के चुनाव के लिए सर्वप्रथम शोधकत्री ने विभिन्न शोध-प्रबंधों, पुस्तकों, प्रकाशन सूचियों एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं की मदद से महत्वपूर्ण कृतियों की

संक्षिप्त सूची बनायी , उसके बाद शोध विषय से संबन्धित प्रासंगिक कृतियों के चुनाव के लिए विभिन्न अध्यापकों, प्रबुद्ध पाठकों और विशेषज्ञोंसे सूचनाएँ प्राप्त की गई। शोधकत्री द्वारा प्रतिदर्श के लिए निम्नलिखित उपन्यासों को चुना गया है–

क्र.सं.	उपन्यास का नाम	प्रकाशन वर्ष	लेखिका
1	उसके हिस्से की धूप	1987	मृदुला गर्ग
2	शाल्मली	1987	नासिरा शर्मा
3	छिन्नमस्ता	1993	प्रभा खेतान
4	इदन्नम	1994	मैत्रेयी पुष्पा
5	शेष कादम्बरी	2002	अलका सरावगी
6	रास्तों पर भटकते हुए	2010	मृणाल पाण्डे

फिर उन पक्षों को वर्गीकृत किया गया है जिनके आधार पर चयनित सामग्री का विश्लेषण किया जाएगा। यह वर्गीकरण, तथ्यों एवं विचारों को सुव्यवस्थित करने में मदद करता है। ये सभी पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुए है परंतु विश्लेषण एवं व्याख्या की सुविधा के लिए कुछ पक्षों का चयन किया है जो इस प्रकार है-

- अस्मिता की तलाश
- शिक्षा के प्रति नज़रिया
- जेंडर असमानता
- आत्मनिर्भर स्त्री
- सामाजिक चुनौतियाँ

सन 1960 के बाद भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री जीवन, परंपरागत मान्यताओं से एकबारगी दूर हटकर अपने विकास की नई भावभूमि तलाशने लगा। भारतीय स्त्री शिक्षित-अशिक्षित, घरेलू-कामकाजी, शहरी एवं ग्रामीण तथा आंचलिक के सभी क्षेत्रों की नारी की मानसिकता में बदलाव के चिह्न कहीं कम और कहीं ज्यादा दिखाई देने लगे। सयुंक्त परिवारों के विघटन के कारण भारतीय स्त्री में विवाह के प्रति भी नवीन दृष्टि उत्पन्न हुई। नैतिकता के प्रति मुक्त सोच ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की नवीन व्याख्या की। व्यक्ति स्वतंत्रा की भावना ने सामाजिक धरातल पर नवीन मूल्यों को उभारा है। उत्तरशती के नये आर्थिक परिवेश में मध्यवर्ग बहुत सशक्त होकर उभर आया। पूंजीवाद के निरंतर शोषण ने सामाजिक जटिलताओं को जन्म दिया।

ये सारी बातें इस युग की लेखिकाओं की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती हैं। इन दशकों में लेखिकाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इस काल का स्त्री लेखन सर्वाधिक स्त्रीवादी लेखन रहा है। लेखिकाओं के जीवनानुभव सत्य और विशिष्ट है। उनकी जीवन संबंधी धारणाएं नयी और आधुनिक है। इस युग की लेखिकाओं ने यह महसूस किया कि उन्हें अपनी संघर्षपूर्ण स्थितियों से उभरकर, जीवन निर्वाह हेतु घर से बाहर आना होगा और समाज की टूटी-फूटी मर्यादाओं, पुराने संस्कारों को बदलने के लिए आवाज़ मुखर करनी होगी।

विपुल मात्रा में रचा जा रहा स्त्री-लेखन इस बात का प्रमाण है कि आज की नारी बदल रहे समय, समाज और उसके विद्रूपों, चुनौतियों के प्रति सजग-सचेत है। जहां देह मुक्ति की आवाज़ उठी है, वहीं स्त्री-पुरुष संबंधों में मैत्री और सौहार्द के लिए भी संघर्ष है। स्त्री शोषण, बलात्कार की समस्या, आतंकवाद से उपजे विस्थापन, ग्रामीण स्त्रियों की समस्याओं और स्वचेतना, रूढ़ियों-बेड़ियों और व्यवस्था की अड़चनों से भिड़ती आज की चेतना-संपन्न लेखिकाएं, स्व से पर की यात्राएं कर रही हैं। घरेलू से लेकर वैश्विक समस्याओं के प्रति सचेत लेखिकाएं, अपनी समृद्ध सोच से साहित्य में अपनी भागीदारी निभा रही हैं। अपने भीतर झांककर आत्ममंथन भी करती हैं कि इससमय में वह कौन सी स्त्री बनना चाहती हैं?

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर के उपन्यासों ने नारी परिवार की संस्था को चुनौती देती हुई, महत्वाकांक्षाओं के सपनों को संजोती हुई, अपने नैसर्गिक विकास को अवरुद्ध करने वाली सामाजिक वर्जनायों को तोड़ती आर्थिक रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त करती तथा स्त्रियों की पारंपरिक भूमिका से इतर एक व्यक्ति नारी की प्रतिष्ठा की हैं। जो अपने व्यक्तित्व से अथाह प्रेम करती है और उसे कहीं कुंठित नहीं होने देती।

चयनित साहित्य का विश्लेषण करते हुए उन उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है, जिनको शोध प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही स्थापित किया था। चयनित साहित्य का विश्लेषण करते हुए स्त्री विमर्श से जुड़े विविध पहलुओं की पहचान की गई और उसके आधार पर आगे गहन विश्लेषण किया गया। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमें कोई भी पक्ष एक दूसरे से अलग नहीं है, परंतु अध्ययन की सुविधा के लिए इनका अलग-अलग विश्लेषण किया गया है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित पक्षों को ध्यान में रखा गया-

उपन्यासों में स्त्री विमर्श (जिनमें मुख्य रूप से निम्न पक्षों को देखा गया है)-

- **अस्मिता की तलाश**

यदि उपन्यासों के संदर्भ में देखा जाए तो महिलाओं के लिए उनकी अस्मिता बेहद महत्वपूर्ण है । वे अब केवल पारिवारिक भूमिकाओं में बंध कर नहीं रहना चाहती है। ‘छिन्नमस्ता’ की प्रिया,‘शाल्मली’ की शाल्मली,‘उसके हिस्से की धूप’ की मनीषा, ये सभी अपनी अस्मिता को पाने के लिए संघर्ष करती है। अत: शिक्षा केवल बेहतर जीवन जीने में ही मदद नहीं करती, बल्कि महिलाओं में अपनी पहचान, अपनी अस्मिता बनाने में भी मदद करती है।

- **शिक्षा के प्रति नज़रिया**

विश्लेषण के बाद यहपता चलता है कि आज की नारी शिक्षा पाकर विषम परिस्थितियों एवं अन्याय से लड़ना जानती है, वह झुकती नहीं है बल्कि व्यवस्था से टक्कर लेती है। शिक्षित नारी जागरूक है, अपने प्रति सचेत है। शिक्षा नारी को आत्मविश्वासी एवं सबल बनाती है। ‘शेष कादम्बरी’ की कादम्बरी,‘शाल्मली’ की शाल्मली ऐसी ही नारियां है जो पढ़-लिख कर समाज में अपनी जगह बनाती है। समाज में नारी के प्रति पारंपरिक सोच और शोषण के खिलाफ, आज की शिक्षित नारी मोर्चा संभाल रही है। परंतु आज भी कई ऐसी जगह है जहां शिक्षा को ज़्यादा महत्व नहीं दिया जाता,या शिक्षा के प्रचार प्रसार की आवश्यकता है ‘इद्न्नम’ की मंदा पढ़ना चाहती है, परंतु परिस्थितियों के कारण पढ़ नहीं पाती।

- **जेंडर असमानता**

उपन्यासों के अध्ययन के बाद यही पता चलता है कि समाज में हर स्तर पर जेंडर असमानता मौजूद है और इस जेंडर भेदभाव की शिकार महिलाएं ही है। जेंडर भेदभाव के कारण ही महिलाएं सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक और मानसिक शोषण की शिकार बनती है। इस जेंडर भेदभाव को खत्म करने के लिए समाज की मानसिकता में परिवर्तन लाना ज़रूरी है, जिसके लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

- **आत्मनिर्भरता**

चयनित उपन्यासों के विश्लेषण के बाद यही पता चलता है कि स्त्रियाँ पढ़-लिख कर आत्मनिर्भर बनना चाहती है और आत्मनिर्भर स्त्रियाँ अपनी अस्मिता का निर्माण एक दायरे में बंध कर नहीं करती। ‘शाल्मली’ की शाल्मली अपनी आत्मनिर्भरता में ही अपनी अस्मिता को देखती है। वह पूरा फ़लक पाना चाहती है। इसके लिए वह और उसके पिता शिक्षा को बेहद महत्वपूर्ण मानते है।

- **सामाजिक चुनौतियाँ**

चयनित उपन्यासों में यह स्पष्ट रूप से निकल कर आया है कि शिक्षित महिलाएं विभिन्न विषम परिस्थितियों का सामना बेहद धैर्य के साथ करती है। यदि वे शोषण की शिकार होती है तो भी अपने आप को बेहतर संभाल सकती है। ‘रस्तों पर भटकते हुए’ की

मंजरी,'छिन्नमस्ता' की प्रिया,'इदन्नमम' की मंदा व कुसुमा भाभी,'शाल्मली' की शाल्मली,'उसके हिस्से की धूप' की मनीषा,'शेष कादम्बरी' की रूबी दी, कादम्बरी और अन्य नारी पात्र अपने स्तर पर अपने जीवन में सामाजिक चुनौतियों का सामना बड़े आत्मविश्वास के साथ करती है।

निष्कर्ष :

आज के युग में स्त्री विमर्श का अपना महत्व है। बदलते युग में स्त्रियाँ अपनी अस्मिता को पाना चाहती है। वे अब केवल घर तक ही सिमट कर नहीं रहना चाहती बल्कि बाहर निकल कर कंधे से कंधा मिला कर कार्य करना चाहती है एवं अपनी अलग पहचान बनाना चाहती है। चयनित उपन्यासों की महिलाएं अपनी अस्मिता को अपने कार्य से जोड़ कर देखती है, वे अपने काम से अपनी पहचान बनाना चाहती है परंतु पितृसत्तात्मक मानसिकता वाले लोग महिलाओं के काम करने को केवल पैसा कमाने से जोड़ कर देखते है । वह यह नहीं समझते की महिलाओं का बाहर निकल कर काम करना उनकी आइडेंटिटी से भी जुड़ा है। पढ़ी –लिखी महिलाएं सामाजिक चुनौतियों का बेहतर सामना कर सकती है, वे समाज में या परिवार में अपने खिलाफ हो रहे शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठा सकती है। शिक्षा महिलाओं को उनकी आइडेंटिटी बनाने में मदद करती है। परंतु समाज में महिलाओं को पढ़ाने का एक महत्वपूर्ण कारण विवाह है । स्त्री को इसलिए शिक्षा दी जा रही है ताकि वह एक बेहतर घरेलू महिला बन सके । स्त्री की शिक्षा को आत्मनिर्भरता से जोड़ कर नहीं देखा जाता, यदि देखा भी जाता है तो सीमित व्यवसायों में। अध्यापक एवं किसी ऑफिस में उच्च अधिकारी तक तो ठीक है, परंतु इससे अलग अगर महिला व्यवसाय के लिए देश-विदेश जाए, या पत्रकारिता जैसे क्षेत्र में हो और ईमानदारी से अपना कार्य करें तो समाज को मंजूर नहीं है। यहाँ जेंडर असमानता साफ देखी जा सकती है। वास्तव में जेंडर भेदभाव लड़कियों के जीवन में बचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है। उनका बचपन से ही शोषण होना प्रारम्भ हो जाता है। छिन्नमस्ता की प्रिया बचपन में ही अपने भाई द्वारा यौन शोषण की शिकार है। स्त्री की जेंडर असमानता घिनौने अपराधों की उत्प्रेरक है। बिना जेंडर संवेदी वातावरण बनाए और लैंगिक न्याय की मंज़िलें तय किए बिना इन अपराधों को मिटाना नामुमकिन है। इस प्रकार की अनेकों समस्याओं का सामना स्त्रियों को करना पड़ता है। ऐसे में स्त्रियों को सशक्त बनाने की ज़रूरत है। सशक्तीकरण का प्रमुख आधार शिक्षा है। शिक्षा स्त्रियों को अस्मिता दिलाने में, आत्म-विश्वास एवं आत्म-निर्भरता से परिवार एवं सामाजिक जीवन संचालित करने में मदद कर रही है। परंतु शिक्षा अधिकार कानून 2009 के आने के लगभग 5 वर्ष बाद भी पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा में बहुत अंतर है 2011 की जनगणना के अनुसार 7 वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों की साक्षारता दर 80.89% थी जबकि महिलाओं की यही दर 64.64% थी। जाहिर है कि महिलाओं की शिक्षा को बहुत से अन्य सामाजिक कारक भी प्रभावित करते है। ज़रूरत है इन कारकों की पहचान करने की, और इनमें परिवर्तन लाने की।

इन उपन्यासों के विश्लेषण के बाद एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि निश्चित रूप से स्त्री, परिवार से बाहर नई से नई श्रम वाली और दिमागी भूमिकाएँ निभाने को आतुर है। उसे शिक्षा, शादी, कैरियर जैसे व्यक्तिगत निर्णयों में तो स्वतन्त्रता चाहिए ही, साथ ही परिवार और समाज की निर्णय प्रक्रिया में भी समान भागीदारी चाहिए। उसे महिला-छवि को लेकर, हर तरह के अपमानजनक और उत्पीड़क 'स्टीरियोटाइप' से मुक्ति पानी है। वह चाहती है कि उसकी क्षमता को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के आधार पर आँका जाए, न कि उसके लिंग से। इन रास्तों में जो रुकावटें है स्त्री उनसे भी वाकिफ है पितृसत्तात्मकता, शिक्षा का अभाव, नियमित उत्पीड़न, बलात्कार आदि जैसी समस्याएँ उसके संसार से अचानक छूमंतर नहीं होंगी । अत: इन सबका सामना करने हेतु सशक्त हथियार कही जाने वाली शिक्षा की व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है।

<u>शोध के शैक्षिक निहितार्थ (***Implications***)</u>- प्रस्तुत शोध कार्य में स्त्री विमर्श के विभिन्न पहलुओं को जानने, समझने का प्रयत्न किया गया है। स्त्रियों की स्थिति के पीछे जेंडर असमानता एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। शोध कार्य के अंत में शैक्षिक व्यवहारिकता के रूप में जो बिन्दु निकल कर आए है वह सुझाव के रूप में यहाँ प्रस्तुत है-

- शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया को जेंडर के प्रति संवेदनशील बनाने की आवश्यकता है।

- महिलाओं की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को समझते हुए उनके लिए ऐसी नीतियों का निर्माण किया जाए जो उन्हें शिक्षा के बेहतर मौके प्राप्त करने में मदद कर सकें।
- शोधकार्य से महिलाओं के दृष्टिकोण एवं आकांक्षाएं उजागर होती है, जिसे ध्यान में रखते हुए नीतियों एवं पाठ्यचर्या का निर्माण किया जाना चाहिए।
- पाठ्यपुस्तकों में केवल स्त्री के चित्र या स्त्रीलिंग भाषा का प्रयोग करके ही जेंडर समानता नहीं होगी, ऐसी विषय वस्तु का चुनाव करना होगा जो विद्यार्थियों में जेंडर संवेदना पैदा करें।
- आज के समय में जहां महिलाओं के प्रति घृणित एवं जघन्य अपराधों में बढ़ोतरी हो रही है, वहाँ बच्चों को बचपन से ही जेंडर संवेदनशील बनाने की ज़रूरत है, इस कार्य में विद्यालय महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इसलिए शिक्षा नीतियों, पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों में जेंडर संवेदनशीलता को बढ़ावा देना चाहिए।
- छात्रों में या विद्यार्थियों में ही महिलाओं के प्रति पारंपरिक रूढ़िवादी छवि को बदलने की ज़रूरत है।
- विभिन्न शैक्षिक संस्थानों में महिलाओं की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जाना चाहिए, ताकि वे बिना किसी डर के अपनी शिक्षा प्राप्त कर सकें।
- शोध कार्य से पता चलता है कि महिलाएं धीरे-धीरे अपनी पारंपरिक छवि से बाहर आ रही है, वे सभी व्यवसायों में समान रूप से भागीदार होना चाहती है, इसलिए ऐसी पाठ्यचर्या का निर्माण किया जाए, जो महिलाओं क भी किसी ढांचे में डालकर न देखें, जिससे महिलाएं केवल बंधे-बंधाएँ व्यवसायों को ही न चुन कर अन्य क्षेत्रों में भी स्वतंत्र होकर चुनाव कर सकें।
- शिक्षा महिलाओं की अस्मिता बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, पढ़-लिख कर महिलाएं आत्मविश्वासी महसूस करती है, इसलिए ऐसी पाठ्य-सामग्री का निर्माण किया जाए जो उन्हें प्रेरित करें और अस्मिता निर्माण में मदद करें।

आलेख

मुख्यधारा बनाम देशज ज्ञान व्यवस्था : आदिवासी स्त्री के ज्ञान और संस्कृति के मध्य अन्तरसंबंधों की पड़ताल

पंकज उपाध्याय

स्थानीय समुदायों ने दीर्घ काल में अपने पर्यावरण के बारे में ज्ञान पद्धति का विकास किया है ।चूंकि वे प्रकृति के समीप रहते है और इससे आहार प्राप्त करते है ,उन्हें जटिल पारिस्थितिक तंत्रों की समृद्धि तथा विविधताओं, उनके प्रबंधन और उपयोग की गहरी जानकारी है। यह कृषि के तरीको औषधीय प्रौद्योगिकी, पर्यावरण आध्यात्मिक दुनिया अथवा कोई भी अन्य चीज जो लोगों के किसी विशेष समुदाय के लिए महत्वपूर्ण है के बारे में ज्ञान हो सकता है । स्वदेशीय ज्ञान जन जागरुकता तथा बोध है जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है । यह प्रायः लोगों के विनिर्दिष्ट समूह में मौखिक रूप से हस्तांतरित होता है ।

स्वदेशीय ज्ञान का बहुधा परम्परागत ज्ञान अथवा स्थानीय ज्ञान के साथ अदल-बदल कर प्रयोग होता है । यह समुदाय के लोगों द्वारा संरक्षित बुद्धिमत्ता और साझा है। यह अनिवार्यतः सांस्कृतिक दृष्टि से अनुकूलित अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से आधारित है और यह सामाजिक समूह जिसमें यह कार्यरत है और संरक्षित है कि सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न अंग है ।इसकी प्रवृत्ति इस तरह से विकास करने की है कि उस पर्यावरण जिसमें परम्परागत समुदाय रहते है से निकट संबंध रखता है और उस समुदाय की बदलती हुई स्थिति के अनुरूप स्वयं को ढाल लेता है । परम्परागत ज्ञान के सृजन की प्रक्रिया को औपचारिक रूप से उस तरह से लिपिबद्ध नहीं किया जाता है जिस तरह

की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय सूचना को लिपिबद्ध किया जाता है। परम्परागत ज्ञान के प्रकट रूप से अव्यवस्थित सृजन से सांस्कृतिक मूल्य में अथवा तकनीकी लाभ की दृष्टि से इसके मूल्य में कोई ह्रास नहीं होता है।

उद्देश्य शोध पत्र में परम्परागत ज्ञान जो संहिताबद्ध नहीं है, के सृजन और प्रसार में महिलाओं की भूमिका की पड़ताल की जानी है। इस पत्र में महिलाओं के पास नाना प्रकार के ज्ञान के क्षेत्र का जो भण्डार है उसके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक विस्तार की चर्चा की जायेगी। जिसका अनुपालन समकालीन भूमंडलीय समाज में परम्परागत ज्ञान के महत्व की बात को पुष्ट करने का प्रयास करेगी। जिसके लिए शोधार्थी के पूर्व में देशज समाजों पर किये गये शोध कार्य से प्राप्त तथ्यों का श्रेणीबद्ध विवरण दिया जायेगा जिसके केन्द्र में आदिम देशज समाज **कोलाम जनजाति** की स्त्रीयों के देशज ज्ञान को लेखनबद्ध किया गया है। जिसके लिए आवश्यक मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण और शोध प्रविधियों का प्रयोग निहित है।

महिलाएँ और परम्परागत ज्ञान

देशज समुदायों में महिलाएं सामान्यतया परिवार में केन्द्रीय भूमिका निभाती है और परम्परागत ज्ञान की वास्तविक संरक्षक होती हैं। उनके पास आसपास की प्रजातियों और पारिस्थितिकी तंत्रों की विस्तृत जानकारी होती है। उन्हें पौधों के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों, उनके चयन, अनुरक्षण और प्रबंधन के बारे में अपार ज्ञान होता है। वे शाकवाटिका की देखरेख करने वाली और खाद्य फसल तथा औषधीय पौधों के स्थानीय ज्ञान के रक्षक के रूप में जैवविविधता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके अतिरिक्त, ग्रामीण परिवारों में प्रयुक्त घरेलू उपचारों की श्रेणी भी अत्यधिक प्रभावोत्पादक है क्योंकि यह खाद्य और पोषण के संबंध में उपयोगी ज्ञानों से भरपूर है। परम्परागत रूप से भारतीय और अन्य एशियाई महिलाओं के अपने परिवार के लिए सही प्रकार का भोजन, जो मुख्यतया स्थानीय संसाधनों पर आधारित होते थे, चुनने तथा पकाने के बारे में बुद्धिमत्ता और ज्ञानथा। स्थान निर्दिष्ट आहारजिसमें मौसम के अनुरूप परिवर्तन होता है परम्परागत आहार संबंधी प्रचलन के महत्वपूर्ण पहलू थे।

इस प्रकार महिलाएं स्थानीय शिक्षक बन जाती हैं, जो परम्परागत ज्ञान और प्रौद्योगिकी, जैसेदादी मां के नुस्खे,जिसमें अनेक रोगहर पौधों के प्रयोग की विधि की जानकारी होती है और अनेक ग्रामीण समाजों जहां आधुनिक चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं ये परम्परागत प्रसूति सहायिका के रूप में कार्य करती हैं, को आगे बढ़ाती हैं। अनेक संस्कृतियों में महिलाएं वस्त्रों, परिधानों और परम्परागत सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के अन्य बहुमूल्य रूपों के लिए तकनीकि तथा डिजाइनों के विकास तथा पोषण में सहायक रही हैं।

परम्परागत ज्ञान और विज्ञान

दीर्घकाल तक आधुनिक विज्ञान ने परम्परागत ज्ञान की उपेक्षा की है। इसे आदिम अथवा अवैज्ञानिक कहा जाता था। कृषि और चिकित्सा विज्ञान ने स्वदेशीय ज्ञान और कार्य पद्धति को स्थापित कर दिया किंतु बाद में आधुनिक विज्ञान ने एक बार फिर स्वदेशीय ज्ञान की बुद्धिमता का पता लगा लिया और पाया कि इसके पास भी देने के लिए बहुत कुछ है। परम्परागत ज्ञान वैज्ञानिक शोध के लिए उपयोगी मार्गदर्शन करता है।

स्थानीय ज्ञान व्यवस्था विभिन्न क्षेत्रों में सातव्य जैसे जैव विविधता संरक्षण और पारिस्थितिकी तंत्र सेवाओं के रखरखाव की उष्णकटिबंधीय पारिस्थितिकी तंत्र पुनर्स्थापना संपोषणीयजल प्रबंधन, जैविका संसाधन संरक्षण तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन के लिए योगदान देती है। स्थानीय ज्ञान को पारिस्थितिकी व्यवस्था की पुनर्स्थापना के लिए उपयोगी पाया गया है और बहुधा इसमें अनुकूली प्रबंधन का तत्व होता है।

मानवता अप्रत्याशित प्रगति और उपभोक्तावाद द्वारा उत्पन्न बहुविध खतरों के कारण प्राकृतिक संसाधनों के क्षय तथा ह्रासमान पारिस्थितिकी तंत्र सेवाओं की विशेष चुनौती का सामना करती है इन खतरों से बचने के लिए प्राकृतिक और समाज विज्ञानों ने पारिस्थितिकी तंत्र संरक्षण तथा पुनरूद्धार के बारे में ज्ञान अर्जित करके तथा उस ज्ञान का उपयोग करके तथा सतत विकास की नीति और कार्यप्रणाली को सुदृढ़ बनाकर सहायता की है इसलिए औपचारिक विज्ञानों तथा स्थानीय ज्ञान पद्धतियों दोनों के सामूहिक बौद्धिक संसाधनों को निकालना अनिवार्य है।

आज के सवाल.....

व्यापक रूप से अब तक हम संस्कृति को एक समग्रता में देखते आये है जिसमें ज्ञान,कला,आस्थाएं,मान्यताएं,धर्म,नैतिकता,व्यवहार आदि मान्यतायें होती है जन्हें हम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करते है। यह एक सीखा गया व्यवहार है जो प्राथमिक स्तर पर सांस्कृतिक तत्वों से निर्मित होता है यही सांस्कृतिक तत्व समग्रता में संस्कृति का निर्माण करते है । संस्कृति के मुख्य अवयव में ज्ञान एक विशिष्ट माध्य है जिससे किसी समाज की विश्वदृष्टि और उसकी जीवनशैली निर्धारित होती हैं । संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्य किस प्रकार से व्यक्ति के व्यवहार एवं मानसिकता को प्रभावित करती है। इस संदर्भ में दुर्खीम ने 'सामाजिक अप्रतिमानता' की व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार, सामाजिक संरचना अपने सदस्यों के लिए संस्थागत साधनों को भी निर्धारित कर देती है । यदि कोई व्यक्ति संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में संस्थागत उपायों को ही अपनाता है तो वह अनुपालन कर रहा होता है। अन्य परिस्थितयों में अप्रतिमान की स्थिति होती है जोकि विचलित व्यवहार की ओर ले जाती है। यह व्यवहार यह निर्धारित करने में अक्षम होता है कि उसकी ज्ञान मीमांसा का व्यवहारिक दृष्टिकोण क्या होना चाहिए ?

किसी संस्कृति का वास्तविक प्रतिबिंबन उसके सांस्कृतिक तत्वों पर निर्भर है जिसकी एक मूल इकाई स्त्री है । किसी समाज को अगर देखना हो उसके सांस्कृतिक तत्वों में स्त्री की सहभागिता और उसकी स्थिति से उस समाज का वास्तविक प्रतिबिंबन देखा जा सकता है। देशज समाजों के मूलभूत सांस्कृतिक तत्वों में स्त्री की अस्मिता और उसका हस्तक्षेप आसानी से देखा जा सकता है जबकि आधुनिक ज्ञानदर्पण में स्त्री के ज्ञान को सतही और गैर जरुरी श्रेणी में रखा गया है । स्त्री के कार्य को सामाजिक वैधता और उसके अनुप्रयोगों को पहचान तक नहीं मिल सकी है ।आधुनिक समाज की विशेषता है कि व्यक्तिगत चुनाव की स्वतंत्रता ! मनुष्य के लिए जन्मना उसकी सामाजिकी तय नहीं होती । आधुनिक समाज उसे चयन का विकल्प देता है । लेकिन स्त्रियों के लिए इन सब अधिकारों को केवल लिंग के आधार पर बाधित किया चाहे वह किसी भी वर्ग ,वर्ण या नस्ल की स्त्री क्यों न हो !यानि आधुनिक समाज के सबसे पहले महत्वपूर्ण लाभ से समस्त स्त्री समाज को वंचित रखा गया । समाज में जहां व्यक्तिगत चुनाव की स्वतंत्रता ने सर्वाधिक योग्य व्यक्ति के हाथों में उसकी योग्यता के अनुसार काम सौंपा वहीं स्त्रियों के लिए किसी प्रकार के अवसर के द्वार बिना योग्यता की परीक्षा के बंद ही रखे गये ।

ऐतिहासिक तौर पर स्त्रियां किसी भी तरह के सांस्कृतिक उत्पादन से बाहर रखी गई। भाषा संस्कृति का सबसे अहम हिस्सा है चूंकि स्त्रियां उत्पादन में शामिल न होकर सिर्फ उसकी प्रयोगकर्ता हैं इसलिए वे अपने सांकेतिक अर्थ को प्रमुखता देने में असमर्थ हैं । स्त्री और पुरुष दोनों ही अर्थ उत्पन्न करने की क्षमता रखते है लेकिन स्त्रियां इस स्थिति में नहीं रहीं कि उनके द्वारा दिये गये अर्थ को सामाजिक तौर पर मान्यता मिल सके । वे कभी सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा नहीं रहीं,संस्कृति निर्मात्री भी नही रहीं । जबकि देशज समुदायों में ज्ञान की परिभाषा इतनी विभाजनकारी नहीं रही है । देशज ज्ञान मीमांसा में लिंगीय आधार पर निर्धारण को सहजता से नहीं देखा गया है ।

अब हम उन अनंत तरीकों को देखते हैं जिसमें कोलाम महिलाएं अपने दैनिक जीवन में परम्परागत ज्ञान का प्रदर्शन करती हैं।

पारिस्थिकीय ज्ञान और कोलाम स्त्री

भूमि और जल – कोलाम समुदाय की अवस्थिति महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ क्षेत्र में अधिक पायी जाती है जो कम वर्षा का क्षेत्र हैं । ऐसी स्थिति में यहां भूमि और जल के प्रबंधन में कोलाम महिलाएं भूमि और जल के प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । वे बहुधा गृह स्थितियों में जल की संग्रहकर्ता,प्रयोगकर्ता और प्रबंधक के रुप में फसल चक्र,अंतराल सस्य,गोबर खाद द्वारा मृदा संरक्षण और संवंर्धन तकनीकों का प्रयोग करती है । भूमि को अधिक सिंचित करने और पारिस्थिकीय सहयोग के लिए कोलाम समाज 'सेक्रेड गार्डन'(पवित्र बाग) की धारणा का इस्तेमाल करता है ।जहां एक विशेष क्षेत्र का चुनाव कर उसमें ताप नियंत्रक,मृदा संवर्धक पौधें लगाये जाते है जिनका इस्तेमाल करना वर्जित रहता है। टैबू के रूप में कोलाम कुछ किस्म के पेड़ नहीं काटते है ।

औषधीय ज्ञान- कोलाम महिलाएं अपने परम्परागत ज्ञान के साथ अपने रोजमर्रा के जीवन में आने वाली बीमारियों को भी अपने परम्परागत उपचारों के माध्यम से ही करती है । ये ऐथनो मेडिसिन प्रकृति प्रदत्त होते है । जिनकी विशेषता और प्रयोग उन्हें मौखिक परम्परा

से अपने पूर्वजों से प्राप्त हुये है। ये आयुर्वेद के अधिक करीब देखी जा सकती है जिसके लिए कुछ मुख्य बीमारियों में निम्नलिखित पौधों का सेवन किया जाता है।

सामान्य नाम	रोग	बॉटीनिकल नाम
काझी ,असड़ा	त्वचा रोग	Bridelia retusa
पडेली	बुखार	Stereospermum chelonoides
बहेड़ा	गले के रोग	Terminalia bellerica
नीम,आवंला	उल्टी	Azadirachta indica
चितौर	मुहं के छाले	Terminalia arjuna
काली दुध्धी	सांप काटने पर	Wrightia tinctoria
तून	पेट दर्द	Aegle marmelos
रोहन,अहरा	मलेरिया	Moringa oleifera

विदर्भ के सूखे इलाकों में भी उपलब्ध वृक्षों और शाक का बेहतर इस्तेमाल कोलाम महिलाएं अपने रोज के जीवन में करती है। इस क्षेत्र में रहने वाली कोलाम महिलाएं कुकुरमुत्ते की प्रजातियों झरबेरियों ,कंदो और पुष्पों सहित अन्य प्रजातियों के लिए वनो पर निर्भर है और ये उनके आहार तथा खाद्यतेल में सम्मिलत है। औषधीय ज्ञान के अतिरिक्त ये सही वृक्षों से सूखी लकड़ियों का चयन ईधन के रूप में करती है।

दूसरी ओर मुख्यधारा की महिलाओं को बाजार पर निर्भर रहना पड़ रहा है। उनके पूर्व ज्ञान को (जो उन्हें अपनी पिछली पीढ़ी से मिला) उसे पितृसत्तात्मक समाज वैधता प्रदान नहीं करता बल्कि उसे बाजार के मुताबिक ही तैयार किया जाता है। टीवी के विज्ञापनों में महिलाओं को अपने परिवार के प्रति समर्पित और सजग दिखाया जाता है परन्तु उसका आधार उनका ज्ञान न होकर बाजार से उप्लब्ध ज्ञान को एक प्रतिरूप के तौर पर दिखाया जाता है।

यौनिकता और स्वच्छता –

कोलाम स्त्री अपनी यौनिकता के लिए सामाजिक आलंबन से मुक्त है। समुदाय की महिलाएं कोलाम युवतियों को यौनिकता से जुड़े अहम पहलुओं पर सहयोग औऱ उपर्युक्त सलाह देती है मासिक धर्म,शारीरिक संबंध,यौन अंगों की देखभाल और आपसी संबंधों को सुचारू बनाने के लिए उन्हें समय-समय पर सलाह दी जाती है। समुदाय में पवित्रतावादी बोध को मान्यता नहीं दी जाती है। कोलाम स्त्री अपना साथी चुनने और साथ रहने के लिए स्वतंत्र होती है। लिंगविषयक दृष्टिकोण का कोलाम समाज में ज्यादा महत्व नहीं है। जबकि मुख्यधारा के समाज में लिंगविषयक विभेद स्पष्ट दिखायी देता है जो पुरूषवादी सत्ता और व्यवहारिक रुप में प्रभुत्ववादी है। यह स्त्री को दूसरे लिंग के रूप में देखता है जिसका उद्देश्य पुरूष की सेवा करना है। स्त्री को एक सम्पत्ति के रुप में चिन्हित कर उसकी यौनिकता का नियंत्रण उसका समाज औऱ कोई पुरुष ही करता है ,कभी पिता के रूप में तो कभी पति के रूप में तो कभी पुत्र के रूप में। स्त्री की आत्मनिर्भरता और अस्मिता पूर्ण रूप से पुरुष पर निर्भर है। जहां आर्थिक रूप में संपन्नता के बावजूद महिलाओं के अवसरों और ज्ञान को लघु अवधि का माना जाना आम बात है।

उपसंहार -

स्त्रीज्ञान को मुख्यधारा के ज्ञान के अनुसार वो लक्ष्य नहीं मिल सका है जिसकी वो हकदार है। मुख्यधारा ज्ञान स्त्री के ज्ञान को वो परिमार्जन देने में असमर्थ है जिसका मुख्य उद्देश्य वर्चस्ववादी अवसर को थोंपना है। स्त्री का ज्ञान किसी समाज के साथ सीधे जुड़ने और उसे व्याख्यित करने का साधन होता है। परन्तु मुख्यधारा इसे अस्वीकार कर उसे निर्भर ज्ञान बनाने की प्रक्रिया में ही चल रहा है। स्त्री ज्ञान को जीवन शैली से एक राजनैतिक पुरुषवाद के जरिये नियंत्रित कर उसे अमान्य बनाने की राजनीति चलायी जा रही है जिसमें स्त्री ज्ञान को सामाजिक मान्यता से दूर रखा जा रहा है साथ ही मुख्यधारा की ज्ञान मीमांसा एक तौर पर नियंत्रित देशज ज्ञान का ही प्रयोग कर रहा है

जिसकी निर्भरता बाजार नियंत्रित कर रहा है। परन्तु देशज समाज खुद को आधुनिक समय में एक सीधी लड़ाई लड़ रहा है जिसमें स्त्री के ज्ञान को सीधी वैधता और सामंजस्य के लिए खुद को परम्परागत ज्ञान को मान्यता दिलाकर ही ज्ञान के वर्चस्ववादी तरीके को खत्म करना होगा। उपाय के तौर पर हम परम्परागत ज्ञान, मानव और प्रकृति के बीच सर्वांगीण संबंध जोड़ता और स्थापित करता है इसने वैज्ञानिकों जैसे नृजाती वनस्पतिशास्त्री ,औषधिशास्त्री और कृषकों, वन रक्षकों तथा खाद्य प्रौद्योगिकीविदों के पास इस समय ज्ञान का जो भण्डार है उसमें महत्वपूर्ण रूप से योगदान दिया है। इस प्रकार, सतत् विकास के लिए नीति तैयार करते समय वैज्ञानिकों तथा स्थानीय ज्ञान रखने वाले लोगों जिसमें सामान्य रूप से स्थानीय तथा विशेषरूप से स्वदेशीय दोनों सम्मिलित हैं के बीच निकट सहयोग की आवश्यकता है।

महिलाओं के पास जो परम्परागत ज्ञान हैं उन पर विशेषरूप से विचार करने के अनेक कारण हैं। आदिम महिलाएं, औषधीय पौधों के प्राथमिक संग्रहकर्ता, बीज का भण्डारण करने वाली और छोटा मोटा शिकार करने वाले के रूप में जैवविविधता के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में पारिस्थितिकीय स्वास्थ्य के पर्यावरणीय सूचकों की पहचान करने में सक्षम हैं।

संभवत: सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि उन्हें भावी पीढ़ियों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है क्योंकि उनकी आज की गतिविधियां प्रकृति को प्रभावित करती हैं जिससे कि उनकी जीवनशैली, उनकी संस्कृति और प्राकृतिक दुनिया जिसमें हम सब रहते हैं, निरंतरता तथा संपूर्णता उनकी संततियों के लिए सुनिश्चित की जा सकें। प्रधानतया ये महिलाएं ही हैं जो इन मूल्यों को अगली पीढ़ी तक पहुंचाती हैं। उनके बहु-पीढ़ी परिदृश्य पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है विशेषकर तब जब हम अपने अनुभव से यह स्वीकार करते हैं कि अनेक परियोजनाएं विध्वंसकारी सिद्द हुई तथा प्रकृति के लिए उनके विनाशकारी परिणाम हुए इसका कारण यह था कि बाद के चरणों पर पर्याप्त विचार नहीं किया गया इसलिए परम्परागत ज्ञान को संरक्षित करने और मान्यता प्रदान करने की आवश्यकता है। जिसके लिए नारीवादी दृष्टिकोण से ज्ञान के वर्चस्व को तोड़ते हुये उसे मान्यता प्रदान करना प्रमुख चुनौती होगी।

संदर्भ सूची

- Blackburn, Stuart. Oral epics in India. Berkeley: university of California press, .1989
- Deogaonkar, S.G. Kolam. New Delhi: concept publishing company, .2007
- Elwin, verrier. The Tribal world of verrier Elwin. Delhi: Oxford university press, .1988
- Gouws, Ronel. Indigenous Knowledge and the Intrigration of knowledge systems towards a philosophy of Articulation. Southafrica city: New Africa books, .2002
- Hainendorf, Christoph vonfurer. Tribes of India;the struggle for survival. London: university of California press, .1982
- Heery, J.V. Tribes and cultural Ecology in central India. Amital publication, .2003
- Hunn, Eugenes. "Knowledge system." In A Companion to the Anthropology of Americans Indians, by Thomes biolsi. u.k: Blackwell publication, .2008
- Kuklick, Henrika. New History of Anthropology. U.k: Blackwell publication, .2008
- हसनैन, डॉनदीम .,"जनजातीय भारत" , जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली,2007

आलेख

मिथिला में लोकगीत प्रभावित वर्चस्व

चित्रलेखा अंशु

व्यवहारिक दृष्टिकोण से लोकगीत और शास्त्रीय गीत दो भिन्न आयाम जन्य अभिव्यक्ति हैं। शास्त्रीय गीत के लेखन और गायन का आधार एक निश्चित शास्त्रीय नियम के अनुरूप होता है तथा इसके विस्तार का क्षेत्र व्यापक है। शास्त्रीय गीत चाहे किसी भी भाषा और देश का हो

वह एक निश्चित नियम के अंतर्गत केवल शास्त्रीय फलक को प्रतिबिंबित करता है। इसके विपरीत लोकगीत क्षेत्र विशेष की पारंपरिक, लोकजीवन-पद्धति, आचार-व्यवहार, संस्कार, क्रियाकलाप तथा सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। 'मिथिला' लोकगीत का एक विशाल भंडार है। अधिकतम लोकगीत अनाम व्यक्ति के कंठ से नि:सृत होकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्वत: अपने अतीत से ही आती रही है। "मैथिली लोकगीतों को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय जी.ए. ग्रियर्सन को जाता है"।[1] वैसे "विद्यापति एवं उनके समकालीन जीवनाथ, भीषम, कंसनारायण, श्रीधर इत्यादि ने सैकड़ों लोकगीत का प्रणयन कर इसके भंडार का इजाफा किया"।[2] यद्यपि अपसंस्कृति ने हर जगह लोकगीत को घर्षित करने का कार्य किया है; तथापि मांगलिक, आनुष्ठानिक, धार्मिक, इत्यादि अवसरों पर ये गीत विशेषत: स्त्रियों के कंठ से मिथिला के चप्पे-चप्पे पर अद्यावधि गाये जाते हैं। विभिन्न कालखंडों में ऐसे लोकगीतों ने अपने अलग-अलग गेयात्मक स्वरूप को ग्रहण किया। चूँकि नारी सबसे अधिक शोषिता और उपेक्षिता रही है। अत: इस लेख के अंतर्गत हम उन लोकगीतों की पड़ताल करेंगेजो पुरुषवादी व्यवस्था में नारी के ऊपर वर्चस्व के मार्ग को प्रशस्त करने में अपनी अहम भूमिका का निर्वहन करते हैं।

मुख्य बिन्दु –मैथिली लोकगीत, पितृसत्तात्मक वर्चस्व, स्त्री अभिव्यक्ति, सांस्कृतिक/धार्मिक प्रथाएँ

लोकगीतों का विश्लेषण

इतिहासकार यह कहते हैं कि वैदिककालीन सभ्यता में मिथिला समाज में स्त्रियाँ बंदिश मुक्त जीवन जी रही थीं। उन्हें वही सारे अधिकार प्राप्त थेजो पुरुष को प्राप्त थे। उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर पुरुष की इच्छा का पहरा नहीं था।विवाह संस्कार के लिए भी उनकी इच्छा का आदर किया जाता था। पिता के द्वारा गलत कदम उठाये जाने पर स्त्री स्वर विरोधी हो उठता था। इसका जीता-जागता उदाहरण यह लोकगीत है-

पिपरक पात झलामलि हे[3]
बहि गेल तितल बतास
ताहितर कोन बाबा पलंगा ओछाओल
बाबा क आयल सुख नींद हे
चलइत-चलइत अइलि बेटी कोने बेटी
खटिया के पउआ धयले ठाढ़ि है
जाहि घर आहे बाबा धिआ हे कुमारि
से कोना सुतथि निचिंत हे
अतना बचनिया जब सुनलन्हि कोन बाबा
घोड़ा चढ़ि भेला असवार हे
चलि भेल मगह मुंगेर हे
पुरूब खोजल बेटी पछिम खोजल
खोजल में मगह मुंगेर हे
तोहरा जुगुति बेटि वर नहिं भेटल
खोजि अएलौं तपसि भिखार हे
निरधन तपसिया हमें न बिआहव
मटि जएवौं जहर चबाय हे

[1]यादव, डादेव नारायन, मिथिला की लोक संस्कृति विशेषांक(2006)पृ138-.
[2]वही, पृ137-.

[3] 'राकेश' राम इकबाल सिंह,मैथिली लोकगीत(2012)पृ34-133-.

अर्थात पीपल के झिलमिल पत्ते हैं। मन्द-मन्द शीतल हवा बह रही है। पीपल की उस छाव में अमुक पिता पलंग बिछाकर ठंडी हवा के झोंके में गाढ़ी नींद में सो रहे हैं।यह देखकर अमुक बेटी पलंग का डाँड़ पकड़कर खड़ी हुई और बोली- "हे पिता, जिसके घर में कुँआरी कन्या है, वह भला सुख की नींद कैसे सोयेगा?" यह सुनकर उसका पिता घोड़े पर सवार होकर दूल्हा की खोज में पूरब, पश्चिम, मगह, मुंगेर से हो आया, पर उपयुक्त वर नहीं मिला। उसने लौटकर कन्या को बताया कि योग्य वर नहीं मिलने के कारण एक निर्धन वर की खोज की है। यह सुनकर बेटी विरोध करते हुए कहती है कि इससे अच्छा वह गरल पान कर प्राण त्यागना पसंद करेगी।

उपर्युक्त गीत के अनुशीलन से यह सहज ही ज्ञात होता है कि कन्या अपने पति का वरण करने के लिए स्वतंत्र थी। वह अपने अनुरूप ही योग्य वर का वरण करती थी। यही कारण है कि पिता के द्वारानिर्धन और अनुपयुक्त वर की तलाश से उसके विरोध का स्वर मुखरित हो उठा।

लेकिन मध्य युग कालीन मिथिला में स्त्रियों की स्थिति वेद युगीन मिथिला से बिल्कुल ही भिन्न हो गई। रूढ़ि, पाखंड, धर्मान्धता, अंधविश्वास आदि ने अपनी जड़ों को और गहराई से मिथिला समाज पर जमा लिया पौराणिक सिद्धांतजो पुरुष के द्वारा गढ़ा गया था- 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' के कारण नि:संतान स्त्रियाँ घोर उपेक्षा और तिरस्कार की पात्रा बन गई थी। भले ही संतानोत्पति में दोषी पुरुष होपर दोष तो स्त्रियों के मत्थे ही मढ़ा जाता था। दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि पुरुषवादी मानसिकता ने अपने वर्चस्व की स्थापना हेतु स्त्रियों की चेतना तक में इस बात का संक्रमण डाल दिया था कि उर्पयुक्त तथाकथित धार्मिक सिद्धांत ही मुक्ति के मार्ग की गारंटी है और इसका प्रभाव यह पड़ा कि समाज की अन्य स्त्रियाँ 'नि:संतान स्त्री' को अशुभ मानने लगती थी। इतने से उन्हें संतोष नहीं मिलता था तो नि:संतान स्त्री को विभिन्न प्रकार की शारीरिक और मानसिक यंत्रणाएँ देती थीं। यही भाव नीचे के लोकगीत में है-

आरे आरे प्रेम चिड़इया झरोख चढ़ि बोलले रे[4]
ललना पिया मोर गेल विदेश विदेशे गर छाओल रे
सासु मोरा निशि दिन मारए ननद गरिआवए रे
ललना गोतिनि कएल तरमेन बझिनिया गर छाओल रे

उपर्युक्त गीत में बाँझ होने के कारण उस स्त्री को सास के द्वारा शारीरिक यंत्रणा तथा ननद के द्वारा गाली का उपहार दिया जाता है। इतना ही नहीं, उसकी देवरानी उसे बाँझ कहकर चिढ़ाती है।

पुत्र और पुत्री के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण वस्तुत: उत्तर वैदिक कालीन समाज की देन है। शास्त्र रचियता पुरुष ने पुत्र को ही कौलिक तारणहार, श्राद्धकर्ता, नीति नियंता, उद्धारकर्ता के रूप में महिमा मंडित किया है। परिणाम यह हुआ कि पुरुषवादी मानसिकता ने कभी भी अपने अंतर्मन से पुत्री की सत्ता को स्वीकार नहीं किया। जब उन्हें केवल इस स्थिति से मानसिक संतोष नहीं मिला तो पुत्री जनने वाली माता के प्रति भी उनकी दृष्टि वक्र हो उठी और एक प्रसूता को जब अत्यधिक देख-रेख की आवश्यकता होती है; तो उसे सोइरी(प्रसूतिगृह) में न्यूनतम सुविधा से भी वंचित कर दिया जाता है। क्योंकि पुरुषवादी परिवेश में माता के द्वारा पुत्री-जन्म ही घोर पाप और दण्डनीय है। अग्रलिखित गीत में नारी के प्रति पुरुष के उसी दृष्टिकोण का वर्णन है-

चेत बैसाख के पुरइनी, पुरइनी थइर लहर माख रे[5]
ललना रे, ताहि तर बेटी जनम लेल, पुरुष बेपक्ष भेल रे
कथीए ओढ़न कथीए पहिरन, कथिए पथ भोजन रे
ललना रे, कथीए जरायब सोइरी घर, पुरुष बेपक्ष भेल रे
गुदड़ी ओढ़न, गुदड़ी पहिरन, कोदो पथ भोजन रे
ललना रे, कड़री जरायन सोइरी घर, पुरुष बेपक्ष भेल रे

---

[4] 'राकेश' राम इकबाल सिंह,मैथिली लोक2012))पृ-.43
[5]आनंद, विभूति एवं ज्योत्सना,गीतनाद(1997)पृ42-41.

उपर्युक्त गीत के अध्ययन से सहज ही सारी तस्वीर स्पष्ट हो जाती है। पुत्री के जन्म से दूसरा तो दूसरा स्वयं उस स्त्री प्रसूता का पति ही उसके विरूद्ध हो गया है। साफ-सुथरे वस्त्र (जो उसे इन्फेक्सन से बचा सके) के बदले उसे पहनने के लिए फटे-चिटे एवं मैले वस्त्र, सुपाच्य एवं स्वास्थ्यकर भोजन के बदले पथ्य के रूप में कोदो (घटिया अन्न) का आहार दिया जाता है तथा कड़री जलायी जाती है, जिससे दमघोंटू धुआँ निकलता है।लेकिन जब वही पत्नी पुत्र को जन्म देती है तो उसका वही पति अपना हो जाता है और उसके साफ-सुथरे लाल वस्त्र, भोजन के सुपथ्यकर और स्वादिष्ट अन्न तथा जलाने के लिए चन्दन की लकड़ी का प्रबंध करता है। दृष्टव्य है इन पंक्तियों में-

चैत बैसाख के पुरइनी, पुरइनी थइर लहर मारू रे[6]
ललना रहे, ताहितर होटिला जनम लेल, पुरुष अपन भेल रे
लाले ओढ़न लाले पहिरन, सारिल-पथ भोजन रे
ललना रे चानन जरायब सोइटी घर, पुरुष अपन भेल रे

मिथिला में "पंजी प्रबंध" के फलस्वरूप बहुविवाह के रूप में आई सामाजिक कुरीति को प्रदर्शित करता अग्रलिखित लोकगीत की नायिका एक स्त्री पति बिछोह, सौतन के द्वारा की जाने वाली मानसिक प्रताड़ना तथा एकाकी जीवन की पीड़ा को अपने आभ्यंतर में किस प्रकार धारण करती है, इसका एक नमूना इस प्रकार है-

तरूणी बयस मोर बीतल सजनी गे, पहु बिसरल मोर नाम।[7]
कुसुम फुलिय, फुल मौलल सजनी गे, भ्रमरो ने लय विश्राम।
सिर सिंदूर नहि भाबय सजनी गे, मुरूछि ससय एहि ठाय।
उठइत परम बेयाकुल सजनी गे, दैव किए भेल वाम।
कोकिल कुहुकि सुनाओल सजनी गे, नयन ढरकिखसु वारि।
अधरस ओतय गमाओल सजनी गे, दय गेल सौतिन गारि।

प्रख्यात कवि विद्यापति प्रणयित उपर्युक्त गीत में स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित हो रहा है कि गीत की नायिका अपनी यौवनावस्था से प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर चुकी है। प्रिय विहीन उसकी माँग को सिन्दूर नहीं भा रहा है। सुमन पुष्पित होकर मुरझा चुके हैं, भ्रमर सतत और अविराम क्रियाशील है, कोकिल की सुरीली कूक नयनों से अश्रु की झड़ी लगा देती है, उसके हृदय में एक हूक-सी उठती है। ऐसे हालात में भी उसकी सौतन उसके ऊपर कहर बरपाती हुई गाली-गलौज रूपी अमर्यादित भाषा का प्रयोग करती है। लेकिन हाय री मिथिला की नारी, इसके पश्चात् भी वह इसका सारा दोष अपने भाग्य को देती है।

वस्तुत: यह उस परिवेश का चित्रण हैजब एक पुरुष तीस से पचास तक विवाह करता था तथा प्रत्येक ससुराल में यायावर की भाँति घूमते-घूमते उसे घर आने की फुर्सत ही नहीं मिलती थी। तब तक विरहिणी नायिका बाल्यावस्था को पारकर बुढ़ा जाती थी । घर में सौतनों के बीच महाभारत का दृश्य उपस्थित हो जाता था। घर रूपी पिंजड़े में कैद परवश नारी-जीवन के इस कटु यथार्थ को ही अपना भाग्य समझ बैठी है। उसकी चेतना ने इस थोथे और निर्लज्ज तर्क को स्वीकार कर लिया है कि वर्जनाविहीन और स्वच्छंद जीवन जीना तो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है और नारी की मर्यादा वर्जना तथा परवशता में ही सुरक्षित है।

बहु विवाह की सामाजिक परंपरा और पत्नी को अपनी इच्छा की दासिन प्रमाणित करती गीत की अग्रलिखित पंक्तियों के अवलोकन से यह पता चलता है कि अपने पुत्र के जन्म पर जब एक स्त्री अपनी ननद को ईनाम में स्मृति चिह्न के रूप में सजोकर रखा अपना कंकण देने से मना करती है तो उसक पति उसे दूसरा विवाह करने की धमकी दे डालता है। यद्यपि वह इसके बदले अपना चन्द्रहार तक देने को तैयार है-

चन्द्रहार बरू देवइन नगवा जड़ा के रे[8]
ललना एक नहिं देवइनि कंकन गोरखपुर के हो रे
चुपे रहु चुपे रहु बहिनि कि तुम दुलरइतिन रे
ललना कय लेब दोसर बियाह कि कंकन बधइया देव रे

[6]वही42-
[7]देवी,श्रीमती उमा,मैथिली लोकगीत(2006)पृ.-63
[8] 'राकेश' रामइकबाल सिंह,मैथिली लोक गीत(2012)पृ47-.

बाल विवाह मैथिल समाज का एक कोढ़ रहा है। विवाह के शाब्दिक अर्थ और उद्देश्य के सर्वथा अपरिचित रहने वाली एक बालिका को विवाह की आहुति में झोंकने वाली घृणित प्रथा का पुरोधा पुरुष ही रहा है। एक गलत परम्परा की सहायता लेकर पुरुष अहं, जीवन के स्वच्छंद गगन में विचरण करने वाली अपरिपक्व बालिका को विवाह आबद्ध कर स्वयंआत्मतुष्ट तो होता ही है साथ ही उस बालिका को यह अहसास भी कराता है कि वही उसका नीति नियंता है। बाल-विवाह को प्रदर्शित करती गीत की ये पंक्तियों -

आठहि बरख केर बयसिया, ते वियाह भेल हे[9]
ललना नवमे बरख केर उमरिया तँ दुरागमन भेल हे

छोटी उम्र में विवाह कर देने का तार्किक पक्ष यह है कि परिपक्वावस्था की तुलना में किसी के ऊपर अपरिपक्वावस्था में वर्चस्व स्थापित करना आसान है। संभव हैएक युवती अपने ऊपर आरोपित बेमेल विवाह का विरोध करे, लेकिन एक बालिका की अविकसित सोच मानवीय दाँव-पेंच की बारीकियों से एकदम अंजान होती है तथा अभिभावकत्व की उद्दाम धारा में स्वयं को प्लावित कर देती है। बाद में वह इसी संस्कार से ओत-प्रोत हो जाती है तथा अपनी अगली पीढ़ी को भी यही संस्कार प्रदान करती है। जो असल में संस्कार न होकर पितृसता द्वारा वर्चस्व स्थापित करने वाला यंत्र है।

पंजी व्यवस्था से आविर्भावित "बिकौआ" विवाह का रूपांतरण दहेज प्रथा के रूप में हुआ। अद्यावधि दहेज रूपि दानव अपने उच्चतम बिंदु पर पहुँचकर सामाजिक व्यवस्था को पल-पल चुनौती प्रदान कर रहा है। वर पक्ष के द्वारालाखों रूपये की राशि दहेज के रूप में लेकर पाणिग्रहण करना उसकी तथाकथित श्रेष्ठता सिद्ध करने की एक साजिश है। इसके द्वारा वह यह प्रमाणित करने का प्रयास करता है कि योग्य से योग्य कन्या भी प्रत्येक दृष्टिकोण से उसकी तुलना में कमतर है। अत: वह उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में दहेज के साथ उसे स्वीकार कर रहा है।सुधा अरोड़ा कहती हैं कि,'दहेज में पाए गए पैसों से रातों रात वर पक्ष का स्टेटस बढ़ जाता है'। अब मैथिली लोगगीत की पंक्तियों में इसकी झलक देखें-

पर्वत मेघ गरजि गेल बाबा पाटन भेल इजोत[10]
लखमी बेटी कुमारि हे बाबा नौ लाख मांगै दहेज
नौ लाख एसरि नौ लाख बेसरि नौ लाख मांगे धेनु गाय
कमल हँसय परइन बिहुँसय सरोवर मारै हिलकोर

पुत्र-पुत्री के प्रति सामाजिक दृष्टि वैषम्यभी पुत्र की उपादेयता और श्रेष्ठता सिद्ध करने का एक नापाक इरादा है। यह कैसी विडम्बना है कि पुत्र तथा पुत्री एक ही सिक्के के दो पहलू की भाँति हैं किन्तु समाज में दो अलग-लअग दृष्टिकोण से लक्षित होते हैं। वस्तुत: पुरुष शासित व्यवस्था पुरातन युग से ही नारी के मस्तिष्क में पुरुष रूपी आधार पर खड़ी एक इमारत की अवधारणा भरता आया है। अर्थात समाज का मदारी नारी को बंदरिया की तरह नचाता आ रहा है। नारी ने भी अपनी इस अवस्था को अपनी नीयती के रूप में स्वीकृति प्रदान कर पुरुष के प्रति भक्ति, प्रीति और श्रद्धा का निर्बाध परिचय दिया है। विवाह संस्कार में गाया जाने वाले एक लोकगीत में इस वैषम्य को देखा जा सकता है-

जाहि दिन आगे बेटी तोहरो अवतार भेल[11]
ताहि दिन भेल विषम वाद हे
चिंतानिन्द हरित भेल बेटी
थिर नहि रटल गेयान हे
पुत्र जौं होइतिह बेटी बाँटतौं बधावा
धियाक जनम खइतौं मरिच पचास हे
मरिचक झोंक से धिया दूरि जइती
छूटि जेति है धिया के संताप हे

---

[9]झा,डाइंद्रकांत ., मैथिली व्यवहार गीत संग्रह(2000)पृ15-.
[10]सिंह अणिमा,मैथिली लोक गीत(1993)पृ465-.
[11]वही, पृ210-.

उपर्युक्त गीत में एक माँ अपनी विवाह योग्य पुत्री से कह रही है कि जिस दिन उसका जन्म हुआउसी दिन से घर में विषम समस्या पैदा हो गई। इस कारण से उसकी निद्रा भंग हो गई तथा वह चिंता के महासागर में उतराने लगी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ माने वह ज्ञान शून्य हो गई हो। अगर वह पुत्र जनती तो घर में उल्लास और आनंद का वातावरण होता। इससे तो अच्छा यही था कि पुत्री के जन्म पर वह मरीच के पचासों दाने खा लेती तथा उसका झोंका नवजात शिशु को लगा देती ताकि उसका प्राणांत हो जाता और उसे इस संताप से मुक्ति मिल जाती।

निष्कर्ष

किसी भी समाज में जनभाषा या मातृभाषा के माध्यम से ही प्रतिरोध की वाणी अपने वास्तविक रूप में प्रस्फुटित होती है और कारगर भी होती है ।मातृभाषा में व्यक्ति संवेदनशील होकर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। बात जब महिलाओं की हो तो उनके पास प्रतिरोध के संसाधनों काघोर अभाव होता है अत: लोकगीत ही उनके प्रतिरोध की वाणी होती है। मिथिला समाज में गाए जाने वाले उक्त गीत पुरुष वर्चस्व के इन छुपे हुए रूपों को दिखाने की चेष्टा करते हैं।चूंकि मिथिला समाज पर संस्कृति तथा परम्पराओं का वर्चस्व प्रारंभ से ही रहा है तथा स्त्री आन्दोलन की कोई पृष्ठभूमि नहीं रही है अत: यहाँ की महिलाएं अपने प्रतिरोध को गीतों के माध्यम से ही दर्ज करती रही हैं। केवल मिथिला ही नहीं बल्कि ऐसे कई समाज हैं जहां की महिलाएं लोकगीतों के माध्यम से अपने भोगे हुए यथार्थ एवं पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। इस लेख में कुछ लोकगीतों का चयन करके स्त्री के ऊपर हावी पितृसत्तात्मक वर्चस्व को दिखाने की चेष्टा की गई है । मिथिला में ऐसे लोकगीतों का अथाह भंडार है जो अपनी अभिव्यक्ति से अपने दु:ख तथा पीड़ा को बयान करती है ।

हमें स्त्री प्रतिरोध की इस अभिव्यक्ति को संरक्षित करने की आवश्यकता है । बाजारवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण लोकगीतों की संस्कृति शनै: शनै: समाप्त हो रही है। हर संस्कारिक अवसरों पर अब बाज़ार का प्रभाव आडियो-वीडियो के रूप में साफ देखने को मिलता है । ऐसी स्थिति में स्त्री स्वर के एकमात्र इस सशक्त भंडार को सहेजने की अति आवश्यकता है । अन्यथा इतिहास से तो स्त्रियाँ गायब कर ही दी गई हैं और जो कुछ बचा है उसे भी गायब करने की साजिश चल रही है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. यादव, डा. देव नारायन, मिथिला की लोक संस्कृति विशेषांक(2006), मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा
2. ‘राकेश’ राम इकबाल सिंह,मैथिली लोकगीत(2012), हिन्दी शाहित्य सम्मेलन, प्रयाग
3. आनन्द,विभूति एवं ज्योत्सना,गीतनाद(1997), भवानी प्रकाशन, सैदपुर, पटना
4. , देवीश्रीमती उमा,मैथिली लोकगीत(2001)उर्वशी प्रकाशन,कंकड़बाग, पटना
5. झा,डाइंद्रकांत ,मैथिली व्यवहार गीत संग्रह(2000) कमाल प्रकाशन, पटना
6. सिंह,अणिमा, मैथिली लोक गीत(1993), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
7. देवी,श्रीमती उर्मिला,गाम घरक गीत(2006), उर्मिला प्रकाशन, मधुबनी

8 .देवी,कामेश्वरी,संस्कार गीत(1999)लोकवेद, मधुबनी ।

आलेख

लैंगिक भेद की मानसिकता तथा शिक्षा

मेघा

अक्सर मीडिया आदि के द्वारा इस बात का खुलासा किया जाता है कि अन्याय और लैंगिक भेदभाव का दर्द दुनियाभर की महिलाओं के हिस्से में है। केवल यह मानकर नहीं चला जा सकता कि शिक्षा दर अधिक होने या आर्थिक रूप से विकसित देशों में

महिलायें लैंगिक भेद का सामना नहीं करती। असल में इस प्रकार के ख़बरें सवाल को उठाती है कि आखिर क्यों दुनिया की आधी आबादी अर्थात् औरतें अपने साथ होने वाले अन्याय को झेलने के लिए मजबूर है? 'प्रोसेस ऑफ़ द वर्ल्ड विलोन: इन परसूट ऑफ़ जस्टिस' रिपोर्ट में महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों का ब्यौरा दिया गया है। इस रिपोर्ट के अनुसार, दुनियाभर की महिलाएं घरेलू हिंसा से जूझ रही है, जबकि 125 देशों में इनसे निपटने के पर्याप्त कानून भी हैं। दुनिया भर में लगभग 53 फीसदी महिलाएँ नाजुक हालात में काम करने को मजबूर है। 117 देशों में समान वेतन का कानून होने के बावजूद महिलाओं व पुरुषों के वेतन में लगभग 10 से 30 फीसदी का अंतर है। 127 देशों में पति द्वारा किए जाने वाले रेप को अपराधनहीं माना जाता। 61 फीसदी देशों में महिलाओं के गर्भपात के अधिकार पर पाबंदी है। 50 देशों में महिलाओं की शादी की कानून उम्र पुरुष की तुलना में काफी कम पाई गई है। पता चला कि महिलाओं को घरेलू हिंसा व लैंगिक भेदभाव के खिलाफ कानून होने के बावजूद न्याय न मिलने जैसी परेशानियों से जूझना पड़ता है। भारत के संदर्भ में यह तस्वीर और भी बदरंग है। देश में 39 फीसदी लोगों को पत्नी की पिटाई में कुछ गलत नजर नहीं आता। 15-49 आयुवर्ग की 63फीसदी महिलाओं का मानना है कि रोजमर्रा के पारिवारिक फैसलों में उनकी राय शामिल नहीं होती। भारत में तकरीबन 70 फीसदी महिलाओं को अपने कानूनी अधिकारों के बारे में भी नहीं पता।

इस खबर से साफ जाहिर होता है कि लिंग भेद की मानसिकता आज भी लोगों की सोच की जड़ में बसी हुई है। विभिन्न क्षेत्रों में जहाँ सोच के दायरे आसमान छू रहे है और विकास पा रहे है वहीं लैंगिक-भेद सम्बन्धित मानसिकता अचेतन रूप से आज भी लोगों के दिमाग में बनी हुई है और समय-समय पर ऐसी खबरों के रूप में हिंसा (शारीरिक व मानसिक) उजागर होती रही है।

शिक्षित व विकसित देशों के व्यक्ति जब इस प्रकार का व्यवहार दर्शाते हैं तो यह प्रश्न सामने आ खड़ा होता है कि क्या शिक्षा या हमारा पाठ्यक्रम लिंग-भेद सम्बन्धित मानसिकता को बदल पाने में सक्षम है या नहीं?

लैंगिक समानता सिर्फ लड़कियों/स्त्रियों का ही मुद्दा नहीं यह सब लोगों का मुद्दा है।लैंगिक समानता अपेक्षाकृत अधिक जटिल संरचना है, जिसे मापना भी अपेक्षाकृत कठिन है।पूर्ण लैंगिक समानता का तात्पर्य है- लड़के और लड़कियों को स्कूल जाने का समान अवसर देना और यह कि वे लैंगिक पक्षपात से मुक्त , रूढि(शैक्षिक अभिविन्यास एवं परामर्शके संदर्भ में) रहित शिक्षण विधियों एवं पाठ्यचर्या की शिक्षा प्राप्त करें। इसमें शिक्षा ग्रहण अवधि, अध्ययन उपलब्धि एवं अकादमिक अर्हता के परिणामों की समानता तथा अनुभव के बदले नौकरी व आय के अवसरों की समानता भी शामिल है।

शिक्षा समाज की मानसिकता को बदलने व विकसित करने का एक साधन है। पुरुषों / महिलाओं को शिक्षित करने व लिंग-भेद की मानसिकता को बदलने के लिए पाठ्य-पुस्तकों को संसोधित करने की आवश्यकता है। महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान देने व बालिकाओं के ड्राप आउट रेट को कम करने की भी आवश्यकता है क्योंकि लिंग भेद की मानसिकता को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि स्त्रियाँ स्वयं जागरूक व सक्षम बने व अपनी क्षमताओं व औरतों के कानूनों को पहचाने और उनका उपयोग कर सके।

जेण्डर और यौन शब्द का अर्थ-

वास्तव में समाजशास्त्रमें जेंडर की अवधरणा का सूत्रपात ओकले ने किया है। जब हम यौन शब्द की बात करते है तब इसका प्रयोग जैविकीय रूप में पुरूष और स्त्री के लिए किया जाता है। इस संदर्भ में ओकले ने अपनी पुस्तक Sex, Gender and Society (1972)में यौन और जेण्डर में अंतर किया है। उनका कहना है कि यौन एक जैविकीय अवधारणा है और इसका आधार शरीर है। हम यौन की धारणा को जेण्डर में नहीं लेते। जेण्डर वह अवधरणा है जो सामाजिक और सांस्कृतिकहै। वास्तव में बाद के लेखकों ने जेण्डर की धरणा को 'स्त्री का समाजशास्त्र' (Sociology of women)का नाम दिया है। यह निश्चित है कि पुरूष और स्त्री में जैविकीय अंतर है। स्त्री व पुरूषों के शरीर की बनावट कई अर्थों में भिन्न होती है। जेण्डर यह कुछ नहीं है, जेण्डर तो सामाजिक और सांस्कृतिक सृजन है। जिन समाजशास्त्रियों ने जेण्डर पर लिखा है वे इसको लिंग के साथ नहीं जोड़ते। उनका कहना है कि लिंग तो जैविकीय है और जेण्डर सामाजिक और सांस्कृतिक है। उदहारण के लिए-किसी अर्थी को चार स्त्रियाँ उठाकर शमशान घाट नहीं ले जातीं। इसका यह कारण नहीं है कि स्त्रियां एक शव के वजन को उठा नहीं

सकती लेकिन वे शव को इसलिए नहीं उठाती कि समाज द्वारा यह वर्जित है कि वे शव को लेकर शमशान तक न जाए। ऐसी अवस्था में जेण्डर की अवधरणा स्त्री पुरूष अंतर को शक्ति (Power)के साथ जोड़ती है।

जब हम शब्द कोश मे जेण्डर का अर्थ देखते हैं तो इसका अर्थ निकलता है- 'लिंग' अर्थात् पुरुष और स्त्री । हम जेण्डर का अर्थ पुरूष और स्त्री के रूप में नहीं लेते, हम इसका अर्थ पुरूष और स्त्री के बीच में पाया जाने वाला सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर मानते है, लिंग का अंतर नहीं।

''समाज द्वारा दी गई स्त्री -पुरूष की परिभाषा को सामाजिक लिंग या जेंडर कहते हैं।''

मानवशास्त्री जी.पी. मर्डोक ने जैविक तत्व और व्यावहारिकता को एक साथ जोड़ा है। उनके अनुसार ''महिला या पुरूष को जन्म के पूर्व से निर्धरित तत्वों के अनुसार अपनी भूमिका निभाने की बजाय जैविक भिन्नता, जैसे पुरुष में ज्यादा शारीरिक ताकत होती है और महिलाएँ बच्चे पैदा करती हैं- की वजह से व्यावहारिकता के लिए लिंगगत भूमिकाएँ निभानी हैं अर्थात् ज्यादा दक्षता के लिए लैंगिक श्रम-विभाजन आवश्यक है।''

सांस्कृतिक श्रम-विभाजन के सिद्दान्त के अनुसार ब्रिटिश महिला समाजशास्त्री एन्न ओकले यह मानती हैं कि लिंगपरक भूमिकाएं संस्कृति द्वारा निर्धरित होती हैं, वह पाश्चात्य महिला युक्ति आंदोलन का समर्थन करती हैं। उनके अनुसार लिंगपरक श्रम-विभाजन न तो अतीत में सर्वव्यापी रहा है और न भविष्य में सर्वव्यापी होगा। जैविक शक्तियों के बजाय मानव की खोज करने की शक्ति की वजह से सांस्कृतिक विविधता पुष्पित एवं पल्लवित होती है।

हालांकि कार्ल मार्क्स ने विस्तृत रूप से महिलाओं का सवाल विश्लेषित नहीं किया है पर बाद में उनके सहयोगी फेडरिक एंगेल्स ने इस संबंध में एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी-''द आरिजिनल ऑफफेमिली, प्राइवेट प्रोपर्टी एण्ड द स्टेट''। एंगेल्स ने परिवार के बारे में विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया और कहा कि जिस प्रकार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता रहा है, ठीक वैसे ही परिवार में भी परिवर्तन होता रहा है। चूँकि शुरू-शुरू में उत्पादन के साधन समुदाय के स्वामित्व में थे इसलिए परिवार नामक संस्था का अस्तित्व ही नहीं था अर्थात् प्रारंभिक साम्यवाद के युग में बंधन युक्त स्वच्छंद यौन संबंध हुआ करते थे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया, यौन संबंध पर प्रतिबंध बढ़ते गये। अंततः विवाह और परिवार नामक संस्थाओं का उदय हुआ। विवाह और परिवार ने निजी संपत्ति के उत्तराधिकार की समस्या का समाधन ढूँढा। चूँकि शुरू से पुरूष ही संपत्ति के स्वामी होते थे, अतः यह सवाल उठना लाजिमी था कि उसका उतराधिकार किसी वैद्यउत्तराधिकारी को मिले। ऐसी स्थिति में एक पत्नी एक पति विवाह इस समस्या को सुलझाने का सबसे कारगर उपाय था।

जेंडर शब्द का अर्थ है- स्त्री तथा पुरूष की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिभाषा। यानि समाज स्त्री और पुरूष को किस तरह से देखता है, उन्हें कैसी भूमिकाएं, अधिकार और संसाधन देता है, उन्हें किस तरह का व्यवहार एवं मानसिकता सिखाता है। जेंडर शब्द का प्रयोग स्त्री तथा पुरूषों की सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए, विश्लेषण के एक औजार के रूप में किया जाता है। स्त्रियों की अधीनता की स्थिति का जिम्मेदार उनके शरीर को मानने की आम धारणा या सोच से निपटने के लिए 'जेण्डर' की अवधरणा लाई गई। इसका कारण यह था कि सदियों से यह माना जाता रहा था कि स्त्रियों तथा पुरूषों की चारित्रिक विशेषताएं उनकी भूमिका और समाज में उनके शरीर;यानि उनके सेक्स या लिंगद्वारा निर्धारित होता है। जन्म के समय से ही लड़के एवं लड़कियो को उनके अलग-अलग रूप में ढ़ालने की प्रक्रिया सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार पर शुरू हो जाती है। जो जेंडर सम्बन्धी सरोकारों का आधार बनती है। इस प्रकार जेंडर स्त्री एवं पुरूष की समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषता को दर्शाता है।

संस्कृति तथा जेंडर व महिलाऐं-

समाजशास्त्र का एक नियम है- सांस्कृतिक विलंबन अर्थात् सभ्यता जितनी तेजी से आगे बढ़ती है संस्कृति उस गति में काफी पीछे छूट जाती है। इसलिए कि परंपराओं की जड़ें काफी गहरी होती है और विवेक सभ्यता की अंधाधुंध दौड़ में पिछड़ कर उन्हें काट नहीं पाता। सांस्कृतिक परिवर्तन सोच-विचार के परिणाम होते है। इसलिए उनकी गति मन्द होती है, जबकि वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कार

सांस्कृतिक परिवर्तन की परवाह किए बिना सभ्यता को तेजी से आगे ले जाते हैं। तब प्रगति तो होती है, पर वह प्रगति समाज के लिए विशेष हितकारी नहीं होती, क्योंकि सभ्यता और संस्कृति की विकास-गति में जितना अधिक अन्तर होगा, समाज में अव्यवस्था उतनी ही ज्यादा फैलेगी। विचार और व्यवहार में अन्तर उतना ही अधिक बढ़ेगा। लिंग-भेद सम्बन्धी मानसिकता अपने इसी ढ़र्रे पर टिकी हुई हैं। भारतीय समाज में नारी की जो स्थिति कई वर्षों पहले थी आज भी लगभग वैसी ही बनी हुई है। यदि महानगरों व नगरों में नारी की स्थिति को नजरअंदाज करके भारतीय गाँवों की ओर कूच किया जाए तो स्थिति में सूई की नोंक जितना परिवर्तन भी नहीं मिलेगा। भारतीय संस्कृति में नारी के स्थान व स्थिति को यदि देखा जाए तो वहाँ नारी एक आदर्श के रूप में स्थित है। नारी से वह सभी चीजे अपेक्षित है जो परिवार व समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है नारी के कर्तव्यों व धर्मोंसे हमारे पौराणिक धर्म ग्रन्थ भरे पड़े है। नारी को सीता, लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, माँ, व पवित्रा का जामा पहनाया गया है। नारी को सर्वोच्च स्थान दिया गया है परन्तु यदि इसे व्यवहार के धरातल पर उतार कर देखा जाए तो ज्ञात होता है कि किस चालाकी से नारी को सजा- धजा कर बलि का बकरा बनाया गया है। जरा सी चूक हो जाने पर उस सर्वोच्च शिखर पर बैठी नारी को जमीन की धुल चटा दी जाती है। गृहस्वामिनी का सम्मान केवल घर के कामों, झाडू-चौके तक ही सीमित रख महिलाओं को अहम मुद्दों पर फैसले लेने जैसे- कामों में बड़ी चालाकी से दरकिनार कर दिया जाता है।

नारी की दशा को यदि विभिन्न युगों के क्रमिक विकास में देखा जाए तो हम पाते है कि नारी की स्थिति कितने रूपों में बदलती रही है। प्रागैतिहासिक युग में विवाह प्रथा नहीं थी,स्त्री -पुरुष छोटे-मोटे सामाजिक समूहों में रहते हुए प्रकृति से संघर्ष करते थे। इस समय स्त्री की स्थिति पुरुषों से श्रेष्ठ थी क्योंकि समाज मातृसत्तात्मक था। वैदिक युग में आर्यो के सबसे पुराने ग्रंथ ऋग्वेद में स्त्रियों की स्थिति का भान होता है जिसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि उस समय में स्त्रियाँ उन्नत स्थिति में थी शिक्षा प्राप्ति में उन पर कोई प्रतिबंध नहीं था।)ऋग्वेद में सरस्वती को 'वाक् शक्ति' कहा गया है, जो उस समय की नारी की वक्तव्य-कला और विद्वता की परिचायक है। 'अर्धनारीश्वर' की कल्पना उनके समानाधिकार की भी पुष्टि करती है। उत्तर वैदिक काल या ब्राह्मण काल में धर्म व समाज के क्षेत्र में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उफँचे स्तर की चर्चाओं में उछालिका, आर्तभाग, विदग्ध, अश्वला, गार्गी, मैत्रोयी आदि विदुषियों के उदाहरण उनके शिक्षा प्राप्त करने व समाज में उच्च स्थान को दर्शाते हैं। स्मृति कक्ष में आकर स्त्री की स्थिति में गिरावट आई। वह केवल माता के रूप में आदर की पात्रा रह गई। विवाह की आयु घटती गई, शिक्षा भी नाममात्र की रह गई। मनु ने एक ओर लिखा है कि जिस घर में नारी का आदर होता है वहाँ देवता निवास करते हैं, दूसरी ओर उसे जन्म से मृत्यु तक पुरुष के आश्रय में रखा और आचार-संहिता के रूप में अनेकानेक बंधनों से जकड़ दिया। मध्ययुग में विशेष रूप से भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों और मुगलों के राज्य के बाद, भारत में स्त्रियों की स्थिति में और गिरावट आई। पर्दा-प्रथा प्रारंभ हो गई, घर से निकलना बंद हो गया, शिक्षा छिन गई, सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि चरम पर पहुँच गए। भारत की लोक-कला, शास्त्रीय नृत्य-संगीत इत्यादि मंदिरों तक सिमट के रह गए। भारत में ब्रिटिश राज्य के प्रभाव भी स्त्रियों पर नकारात्मक पड़े कुटीर उद्योग बन्द हो जाने से रोजगार भी छिन गया लेकिन धीरे-धीरे कुरीतियों की बेड़ियाँ टूटने लगी और शिक्षा के द्वार खुलने का रास्ता नज़र आने लगा। वर्तमान में भी स्त्री अपने उत्थान के उन्हीं रास्तों की तलाश में भटकती जान पड़ती है। कई समाजशास्त्रियों ने जेंडर की अवधारणा के अन्तर्गत स्त्री के जीवन तथा समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है परन्तु जैसा कि शुरू में ही कहा गया है कि सभ्यता का विकास तथा संस्कृति के बीच एक गहरी खाई बन गई है। लोगों का व्यवहार तो बदला हुआ जान पड़ता है परन्तु सोच आज भी उन्हीं दायरों में कैद है। कोई भी पिता अपनी पुत्री को उच्च शिक्षा दिलाकर सीना ठोककर कहता है कि मैंने अपनी बेटी को पढ़ाया क्योंकि उन्हें लगता है कि उन्होंने वो काम किया जो किसी लड़की के लिए करना एक एहसान होगा। आज भी हमारी मानसिकता इस गुरूर में रहती है कि हम अपनी बेटियों को पैदा होने से पहले या बाद में मार नहीं रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की जड़े अति गहरी है और व्यापक भी। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आज भी समाज में छिपे रूप में कई मान्यताऐं काम करती है यदि छिपे रूप में होने वाले लिंग-भेद पर नज़र दौड़ाई जाए तो सभी परिवारों को बच्चे के जन्म से पूर्व बेटा होने की आशा व प्रबल इच्छा होती है क्योंकि हमारे रीति-रिवाज व कर्मकाण्डों में मान्यता है कि बेटे के बिना अन्तिम क्रिया व मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता वहीं बेटी को आज भी पराया धन कहकर सम्बोधित किया जाता है। बेटी को एक आर्थिक बोझ के रूप में देखा जाता है तथा बेटी होने पर परिवार में पैसे बचाने व उसकी शादी की चिन्ता उसके जन्म से ही जाहिर की जाती रहती है। भारतीय संस्कृति स्त्री को एक उच्च दर्जा विचारों में तो देती है परन्तु व्यवहारिक धरातल पर चीजे अचानक बदल जाती है। इसके पीछे एक बड़ा कारण भारतीय समाज की संरचना

का पितृसत्तात्मक ढांचा है जो कि पुरुष वर्चस्व स्थापित करता है। वह महिलाओं को सुरक्षित रखता है बिल्कुल सोने के पिजरें में जकड़ी हुई उस चिड़िया की तरह जो चाह कर भी उड़ नहीं सकती।

प्रत्येक मानव नर या मादा के रूप में जन्म लेता है लेकिन, उसकी संस्कृति उसे पुरुष अथवा स्त्री बनाती है। इसलिए लिंग की सामाजिक भूमिका अर्थात् जेंडर, लिंग आधारगत सामाजिक व्यवहार की परिभाषा है।

नारीवादी विद्वान ऐन ओकली का कहना है कि ''जेंडर का संबंध संस्कृति से है। उसका तात्पर्य उन सामाजिक श्रेणियों से हैजिनमें स्त्री व पुरुष, 'स्त्रियोचित' और 'पुरुषोचित' रूप लेते हैं। इनके अनुसार जेंडर का मूल जैविकता या शरीर में नहीं है। बल्कि इसके जेंडर बद्ध मानदण्ड सांस्कृतिक होते हैं।''

लैंगिक समानता ; जेंडर तथा महिला सशक्तीकरण

लैंगिक समानता, महिला सशक्तीकरण का आधार है। विभिन्न महिला संगठन, महिला आंदोलन, नारीवादी विचारक तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेकानेक संगठन स्त्री की स्वतन्त्रता, समानता, अस्मिता, न्याय और गरिमा की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु अथक प्रयासों तथा उपायों के बावजूद लैंगिक असमानता विद्यमान है। अतः इस संदर्भ में विभिन्न विकल्पों की तलाश स्वाभाविक है।

19वीं सदी के प्रारम्भ से ही महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए विभिन्न समाज सुधरकों तथा संगठनों ने महत्वपूर्ण प्रयास किए। पश्चिम के नवजागरण के प्रभाव के फलस्वरूप निजी स्वतंत्रता, व्यक्तिगत विकास, शिक्षा, महिलाओं के सामाजिक और मानवीय अधिकारों ने बुद्विवाद और मानवतावाद के आधार पर भारत के तत्कालीन शिक्षित वर्ग को प्रभावित किया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राणाडे, गोखले आदि ने महिला-उत्थान के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

सशक्तीकरण का अर्थ है - सामाजिक न्याय और समता या महिलाओं की स्वतन्त्रा पहचान या उनको इन्सान के रूप में स्वीकार करना। घर में उसके लिए बराबर का स्थान होना चाहिए।

महिला कल्याण, विकास आदि का मतलब है स्थिति में सुधार। महिला सशक्तीकरण का अर्थ है महिलाओं की स्थिति में बदलाव। बदलाव का मतलब उन सब ढांचों में बदलाव जो औरत को द्वितीय श्रेणी में रखते हैं। इससे पितृसत्ता पर चोट पड़ती है। सोच में बदलाव आता है, बने-बनाए ढांचे पर सवाल खड़े होते हैं।

सशक्तीकरण अधीनता व हिंसा को चुनौती है, संसाधनों पर महिलाओं का नियन्त्रण होना है। महिलाओं को मानव अधिकार देने के काफी प्रयास होने के बावजूद पितृसत्ता पूरे सामाजिक ढांचे में इतनी गहराई तक है कि महिला को अपने बारे में निर्णय करने का अधिकार नहीं है। आज भी भ्रूण हत्या होती है। बालिका वध् होती है जल्दी विवाह करके उनके व्यक्तित्व को कुचलने का पूरा प्रयास होता है। घरेलू हिंसा महिला के विकास को रोकती हैऔरउसके सशक्तीकरण में सबसे बड़ी बाधा है। सशक्तीकरण के लिए आवश्यक है कि यह सारे समाज की सोच बने कि महिलाओं पर हिंसा बर्दाश्त नहीं की जाएगी। जब घर ही सुरक्षित न हो तो वह नागरिक होने का अहसास नहीं कर सकती।

भारत का संविधन औरतों को समानता का अधिकार देता है। 1995 में बिजिंग में हुए विश्व महिला सम्मेलन में भारत सरकार ने वादा किया था कि महिलाओं पर होने वाली हिंसा को रोका जाएगा। हिंसा महिला समानता में सबसे बड़ी बाधा है। यहाँ तक कि वर्ष 2001 को महिला सशक्तीकरण वर्ष घोषित किया गयाऔर महिला नीति की घोषणा भी की गई।

बीसवीं सदी के मध्य में अस्तित्ववादी चिन्तक सिमोन द बुवो की 1949 में प्रकाशित पुस्तक 'द सेकण्ड सेक्स' ने नारीवादी विमर्श को सर्वथा नवीन दृष्टि प्रदान की। उन्होंने स्त्री की स्थिति से सम्बधित (पूर्व प्रचलित प्रमुख विचार दृष्टियों- जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक-भौतिकवाद को इस आधार पर आलोचित किया कि इनमें स्त्री की भूमिका को नियत एवं निर्धरित मान लिया गया, जबकि भूमिकाएँ बनती है, बदलती हैं, पुनर्परिभाषित होती है। मार्क्स की तरह बुवो ने पुरुष एवं स्त्री दोनों को ऐतिहासिक-भौतिकवादी प्राणी माना किन्तु उनकी भूमिकाओं के निर्धारण में परिवेश की व्याख्या, क्रिया एवं क्रिया के लिए दायित्वबोध को भी महत्वपूर्ण माना और यह नारीवादी निष्कर्ष दिया कि सभ्यताओं के इतिहास में स्त्री की स्थिति 'अन्य' के रूप में निरूपित की गई है, प्रधान अभिकर्ता पुरुष रहा है।

1990 के पश्चात् भूमण्डलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की बहस राज्य को सीमित करने की बहस का ही बड़ा हिस्सा था। भू-मण्डलीकरण का जीवन भी भिन्न-भिन्न शैलियों की महिलाओं पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। शहरी, शिक्षित और अपेक्षाकृत सम्पन्न महिलाओं पर लगातार बढ़ते हुए अवसरों, विदेशी कम्पनियों और निवेश का प्रभाव हुआ है। इन रोजगार अवसरों को अधिक शिक्षा और उच्च प्रशिक्षण के अवसरों ने और अधिक सहायता प्रदान की है। नयी प्रविधियॉजो इंटरनेट और कम्प्यूटर द्वारा परिभाषित की जाती है, इस समूह की उस तक पहुँच है। सामान्यतः व्यापार और वित्त बाजार के उदारीकरण का लाभ भी इस समूह को ही मिला है जिसमें सस्ती और अच्छी सुविधाएँ और वित्तीय लाभ उन महिला उद्यमियों को प्राप्त हुए हैं जो इस वर्ग से जुड़ी है। इसके विपरीत अशिक्षित, निर्धन, अनौपचारिक और कृषि क्षेत्र में लगी महिलाओं को जो कि दक्षिण एशिया का प्रमुख समूह है। प्रत्यक्ष रूप से लाभ नहीं हुआ है इन्हें, लम्बे समय में फायदा हो सकता है। किन्तु प्रतिस्पर्धा होने में सबसे पहले सामाजिक क्षेत्र ही आहत होती है। यही वे क्षेत्र हैं जहाँ वित्तीय कटौतियों का सबसे गहरा असर होता है। अप्रत्यक्ष रूप से भी व्यय में कटौतियाँ होती रहती है। सामाजिक क्षेत्रों में व्यय में हुई कटौती का सबसे अधिक प्रभाव तो ग्रामीण निर्धन महिला पर होता है जिसके पास शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच सबसे कम है।

स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण एक समग्रतावादी, वर्चस्ववादी विचारधारा एवं प्रक्रिया के रूप में विकसित हो गया है जिसने वैचारिक एवं आनुभाविक दोनों स्तरों पर चेतना का सघन संकेन्द्रण कर दिया है। इसका नकारात्मक प्रभाव महिलाओं, विशेषतः विकासशील देशों की महिलाओं की अस्मिता, सुरक्षा स्वायत्तता एवं सशक्तीकरण पर निरन्तर बढ़ रहा है।

जेंडर सम्बन्धी मानसिकता तथा शिक्षा -

महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन मूलतः देश के मौजूदा सामाजिक ढांचे, मूल्यों और दृष्टिकोण में परिवर्तन पर निर्भर करेगा। परन्तु सोचनीय बात यह है कि जिस शिक्षा के बलबूते हम महिलाओं की दशा में परिवर्तन की बात करते है आखिर वो शिक्षा हमारे बच्चों की मानसिकता को किस दिशा में ले जा रही है। बच्चों के मानसिक विकास तथा सोच की दिशा में पाठ्यचर्चा तथा पाठ्यपुस्तकें अहम भूमिका निभाती है। जिस प्रकार की पाठ्यसामग्री बच्चों को दी जाएगी सोच भी वैसी ही बनेगी। ''उत्तर प्रदेश की मुन्नी जो हर वक्त चुन्नी ओढ़े गुड़िया से चिपकी रहती है, और मध्य प्रदेश की भोली भाली रानी लड़कियों के लिए 'ढंग' से रहने का आदर्श स्थापित करती है। लक्ष्मीबाई एकमात्र अपवाद कही जा सकती थी, पर वह तो 'मर्दानी' है। मध्य प्रदेश के एक स्कूल में प्रीति नाम की आठ वर्षीय लड़की की कापी का पहला पृष्ठ मुझे अभी तक याद है। जिस पर यह प्रश्नोत्तर दिया था-

प्र०. सावित्री को एक आदर्श स्त्री क्यों माना जाता है?

उ०. क्योंकि वह एक पतिव्रता नारी थी।''

प्रस्तुत उदाहरण प्रो० कृष्ण कुमार ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार हमारी पाठ्य-पुस्तके प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से बालकों के भीतर लैंगिक-भेद की भावना का विकास कर रही है। कुछ काम लड़कों व कुछ काम केवल लड़कियों के लिए निर्धारित किये गए है। ऐसे उदाहरणों से हमारी पुस्तकें बुरी तरह पटी पड़ी है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 में भी लिंग-भेद की समाप्ति की बात को उठाया गया है तथा विद्यालय से कम होते लड़कियों के अनुपात पर चिंता जताई गई है। ''असमान लैंगिक संबंध न केवल वर्चस्व को बढ़ावा देते है बल्कि वे लड़के-लड़कियों में तनाव भी पैदा करते हैं तथा उनकी मानवीय क्षमताओं के पूर्ण विकास की स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाते हैं। यह सबके हित में है कि मनुष्य को लिंग असमानताओं से मुक्त कराया जाए।''

लिंग समानता का मुद्दा केवल महिलाओं का ही मुद्दा नहीं है। लिंग-भेद एक असमान व कुण्ठित समाज को जन्म देता है जहाँ विकास अवरुद्द हो जाता है। दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली औरतों का विकास यदि ठीक प्रकार नहीं होगा तथा उन्हें विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध नहीं होंगे तो आधी आबादी का विकास अवरुद्ध हो जाएगा जिसका प्रभाव बाकी कि आधी आबादी पर पड़ना भी लाज़मी है। शिक्षा को लिंग सम्बन्धी मानसिकता की समाप्ति के प्रमुख हथियार के रूप में देखा गया है। पाठ्यचर्या में सम्बन्धित संसोधन करके इस कुण्ठित मानसिकता को बदला जा सकता है। महिला शिक्षा के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति की रणनीति पर आधारित कार्य योजना (1992)में निम्न बिन्दुओं को दिया गया है-

- समूची प्रणाली को इस प्रकार तैयार करना कि यह महिलाओं को अधिकार प्रदान करने में सकारात्मक हस्तक्षेप का साधन बन सके।
- महिलाओं का स्तर बढ़ाने और सभी क्षेत्रों में महिलाओं के और अधिक विकास के लिए सक्रिय कदम उठाने के लिए शैक्षिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करना।
- महिला-पुरुष में भेदभाव के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर व्यावसायिक तकनीकी और पेशेगत शिक्षा के सभी स्तरों पर महिलाओं को शामिल करना।
- गतिशील प्रबन्ध ढांचे का सृजन करना जिससे जनादेश द्वारा सामने आई चुनौतियों का सामना किया जा सके।

शिक्षा में लिंग-भेद की समाप्ति के लिए समय-समय पर अनेको प्रयास किए जाते रहे है। महिलाओं को अधिकार प्राप्त करवाने तथा शिक्षित करने की अनेकों योजनाएँ बनाई जा रही है परन्तु फिर भी यदि ध्यान से देखा जाए तो पता चलता है कि आज भी महिला शिक्षा का अनुपात कम ही है। इसके पीछे एक बड़ा कारण परम्परागत मानसिकता है जो महिलाओं को घर के कामों तथा पर्दे व चौखट के पीछे तक सीमित रखती है। असल में लोग इन नीतियों व सुविधाओं को जानते ही नहीं और जो जानते भी है वह या तो इन्हें मानना नहीं चाहते या फिर इसके पीछे उन्हें संस्कृति से अलगाव या परम्परा का टूटना नज़र आता है। जिसके अनुसार औरत को घर के अन्दर रखने की बात की जाती है तथा यह माना जाता है कि शिक्षित होने के पश्चात वह स्वतन्त्र हो जाएगी तथा समाज की बात का विरोध करेगी। जैसा कि ऊपर उदाहरण भी दिया गया है पाठ्य-पुस्तकें भी महिलाओं को पुरुषों के पद चिन्हों पर चलने की मानसिकता को बढ़ावा देती नज़र आती है जहाँ पर यह कहा जाता है कि सावित्री जैसी विदुषी स्त्री को एक आदर्श स्त्री इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह पतिव्रता है अर्थात् केवल पतिव्रता होना ही उसे समाज में सम्मान दिला सकता है चाहे इसके अलावा उसके पास कोई अन्य गुण हो या न हो।

महिला शिक्षा के विषय में सिफारिशें करने वाले प्रमुख आयोग निम्न थे

1948-49 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने सिफारिश की थी कि सहशिक्षा कॉलेज में लड़कियों के लिए सुविधाएँ मुहैया कराई जाये। 1952-53 माध्यमिक शिक्षा आयोग ने एक बार फिर इस बात पर बल दिया कि लड़कियों की शिक्षा को लड़कों के लिए शिक्षा के समकक्ष रखा जाए। 1958-59 कई महिला शिक्षाशास्त्रियों के प्रतिनिधित्व से लैस महिला शिक्षा पर राष्ट्रीय समिति ने लड़के और लड़कियों के बीच निरन्तर दूरी पर चिंता व्यक्त की। 1964 कमेटी ने बड़ी संख्या में महिला शिक्षिकाएं प्रशिक्षित करने का आह्वान किया और प्राथमिक स्कूलों में लड़कियों के लिए भिन्न पाठ्यक्रमों की आलोचना की। 1966 शिक्षा आयोग ने लड़के और लड़कियों की तादाद में फर्क मिटाने, प्राथमिक शिक्षा को ऊपर लाने, व्यावसायिक शिक्षा और कार्यानुभव की शुरूआत करने के लिए सटीक लक्ष्य निर्धारित किए। 1986 में नई शिक्षा नीति का आगमन हुआ जिसका मसौदा तैयार करने में कई प्रभावशाली महिला नेत्रियों का महत्वपूर्ण योगदान था। इस नीति को 1992 में, संसोधित किया जा चुका है। 'समानता के लिए शिक्षा' और महिला प्रगति को बाधित करने वाले अनेकानेक रूझानों पर चोट करना इस नीति का सबसे अहम पहलू था।'' राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा की रूपरेखा 2005 में एक बार फिर जेंडर के मुद्दे को उठाया गया और लिंग असमानता को दूर करने के लिए पाठ्य पुस्तकों पर ध्यान केन्द्रित किया गया । पाठ्यचर्चा की रूपरेखा ने पुस्तकों पर तथा पाठ्यक्रम को लिंग भेद असमानता समाप्त करने तथा पुनः विश्लेषित करने की बात करके एक व्यवहारिक प्रयास किया है। पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण करते समय ही विभिन्न आयामों से यह देखने की आवश्यकता है कि पाठ्यपुस्तकें अपने पाठ्यक्रम में किस प्रकार की मानसिकता का विकास कर रही है तथा वह बालक के सर्वांगीण विकास के लिए कहाँ तक लाभकारी है।

निष्कर्ष -

जैसा कि भूमिका में ही स्पष्ट किया गया है कि जेंडर का मुद्दा केवल महिलाओं का मुद्दा नहीं है और न ही ये केवल पिछड़े, विकासशील या विकसित देशों की समस्या है। असल में यह समस्या आधी दुनिया की नहीं अपितु पूरी दुनिया की समस्या है जो कि अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूपों में प्रकट होती रही है। लैंगिक-भेद की मानसिकता को समाप्त करने में शिक्षा को साधन माना जा सकता है बशर्ते शिक्षा में ऐसी पाठ्यपुस्तकों व पाठ्यक्रम का निर्माण हो जो कि लैंगिक-भेद की मानसिकता को समाप्त करने में मदद करें ना कि उसे हवा दे या प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से लिंग-भेद की मानसिकता के बीज बालकों के मस्तिष्क में बोए। जेंडर की समस्या का समाधन महिला शिक्षा तथा जागरूकता को बढ़ाना है। मीडिया तथा शिक्षा के द्वारा यह कार्य किया जा सकता है। जरूरी है कि लिंग-भेद की

मानसिकता को बदलने के लिए स्त्री पुरुष दोनों को ही इस प्रकार की शिक्षा दी जाए जिसके द्वारा दोनों एक-दूसरे को मानवीय मूल्यों पर देखे। जहाँ असमानता व स्तरवाद का प्रश्न ही ना खड़ा हो क्योंकि खूबसूरती दोनों के एक-दूसरें के पूरक के रूप में है न कि अलग-अलग पूर्णता की तलाश में।

आलेख

युवकों के जीवन में भारतीय संस्कृति और भारतीय मूल्यों कामहत्त्व

धर्मेंद्र नारायणरावशंभरकर

कुछ दिन पहले मैंने विज्ञापन में एक व्यक्ति के विचार पढ़े और मैं बड़ी अचरज में पड़ा। उन्होंने लिखा था, 'इन दिनों बच्चों पर सत्य बोलने के, सत्य से बर्ताव करने के संस्कार करने का कोई फायदा नहीं। क्योंकि आज भ्रष्टाचार,शिष्टाचार हो गया है। असत्य आचरण करने वाले लोग ही जीवन में यश पाते है।' सच बात यह है कि चोरों को समाज में कभी प्रतिष्ठा नहीं मिलती। चोर- डांकू जैसे बर्ताव करने वाला 'वाल्या' वाल्मिकी ऋषि तब बना जब उसके आचार में सुधार हुआ। यदि वाल्मिकी ऋषि 'वाल्याही' रह जाते तो हम उनका नाम आदर से कभी नहीं लेते।

इसलिए असत्य का साथ लेकर व्यक्ति कुछ काल तक जरूर यश की ओर जाता हुआ दिखाई देता है, लेकिन''जैसी करनी वैसी भरनी'' इस हिसाब से वह जीवन में शांति, समाधान, निरंतर सुख कभी नहीं पाता। हम आज भी सत्यवचनी राम का ही जय–जय कार करते है, रावण का नहीं।

हमारी संस्कृति में
''सहनाववतु सहनौ
भुनक्तु सहवीर्य करवाव है।''

यह तो संस्कार है उसका बहुत महत्व है। एक तिल सात लोगों में बाँटना, इस संस्कार का महत्व जानकर एक केडबरी सामने वालों में बाँट कर बाद में खुद खाने का संस्कार बच्चों पर जरूर करना चाहिए। इसका अर्थ अपने साथ दूसरों का विचार करना। बचपन से ही दूसरों पर विचार करने की आदत हो गयी, तो वह बड़ा होकर अपने वृद्ध माता-पिता का आदर करेगा। उनको वृद्धाश्रम कभी नहीं भेजेगा।

'संस्कार' यानि मानवीय जीवन को सही रूप से आकार देने वाली प्रक्रिया है। यह संस्कार हम बच्चों के वाणी, देह और मन इन तीनों को दे सकते है। अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिए हम अनेक उपक्रम कर सकते है जैसे मनुष्य के वाणी से अच्छे भले शब्दों का उच्चारण होना चाहिए। मनुष्य को अच्छी आदतें डालनी चाहिए और मनुष्य का मन अनेक विकारों से मुक्त होकर स्वस्थ होना चाहिए। आधुनिक युग में संस्कारों का बहुत महत्व है। क्योंकि अद्य पतन की चीजे बहुत आसान तरीके से उपलब्ध है।

'कृतज्ञता' हमारी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। सामने वाले व्यक्ति के साथ तथा सजीवों के साथ कृतज्ञता पूर्ण बर्ताव करना यह भारतीय जीवन पद्दति है। धूप में छाया देने वाले वृक्षों को पूजा दशहरे के दिन शास्त्रों की पूजा, इन सभी के पीछे कृतज्ञता भाव ही है। गाय हमें आजन्म दूध देती है, बैल खेती-बाड़ी में हमारा हाथ बटाता है, इसलिए हम गाय की पूजा गोमाता के रूप में करते है। बैलों का त्यौहार मानते है संस्कृत में एक श्लोक है:

''कराग्रे वसते लक्ष्मी
करमध्ये सरस्वती
कर मुले तु गोविदः
प्रभाते करदर्शनम।''

सुबह उठते ही अपनी हथेलियोंको देखना और प्रार्थना करना। इसका अर्थ है, दिनभर कष्ट करने वाले हाथों का कृतज्ञता पूर्ण स्मरण करना। हमारे हाथ के ऊपरी हिस्से में संपत्ति की देवी लक्ष्मी है, मध्य में ज्ञानकी देवी सरस्वती और नीचे पराक्रम की देवता है ऐसा मानते है।

मनुष्य जीवन के लिए संपत्ति ज्ञान एवं शौर्य की परम आवश्यकता है। ये तीनों चीजें हम अपने हाथों के माध्यम से ही पा सकते है। इसका अर्थ है- हाथों से कड़ी मेहनत करो और यश पाओ।

'आत्मसंयम' यह भी हमारी भारतीय संस्कृति का एक अहम भाग है। मनुष्य के लिए आत्मसंयम इस गुण का विकास करने से, मन पर काबू रखना मुमकिन होता है। मनुष्य के शारीरिक, बौद्दिक तथा सांपत्तिक साधनों का उपयोग अच्छी दिशा में होने के लिए संयम का बडा महत्व है।

व्यक्ति के विचार वाणी तथा कर्म इन तीनों का समतोल होना चाहिए इसका अर्थ व्यक्ति को वही बोलना चाहिए जिसका वह मन में विचार करता है और उसी प्रकार कार्य करना चाहिए शरीर, मन और आत्मा की यह शुद्धि हो।

बच्चें बडों का व्यवहार देखते है और ठीक उसी रास्ते पर चलते है। खुद दिनभर सीरियल्स देखना और बच्चों को कहना, ''जाओ, अंदर पढाई करो, किताबें पढों'' तो काम कैसे होगा? खुद झूठ बोलना और बच्चों को कहना झूठ मत बोलों। बच्चों के सामने आपस में झगडा करना, गालियां देना और उनसे कहना मिल जुलकर रहो, स्वभाव में शांति रखो तो बच्चे कैसे सुनेंगे? माता-पिता को खुद अपना बर्ताव ऐसा रखना चाहिए जैसी बच्चों से अपेक्षा करते हैं।

''गुरूब्रम्हा गुरूर्विष्णुः
गुरूर्देवो महेश्वरः
गुरू साक्षात परब्रह्मः
तस्मै श्री गुरूवे नमः।

भारतीय संस्कृति में गुरूजनों को ईश्वर की जगह माना है। गुरूजनों की आज्ञा पालन से कठिन कार्य भी सफल हो सकता है। हमारी संस्कृति में माता-पिता गुरू समान होते है। वह बच्चे को जन्म देते है, उसका लालन-पालन करते है। अपने बच्चे की खुशी के लिए अपरंपार त्याग करती है। उसका जीवन उभारने के लिए बहुत सारा कष्ट सहती है। गाय भैस के दूध की कीमत होती है लेकिन माँ के दूध का मूल्य कभी नहीं होता।

स्त्रीत्व का आदर करना यह महत्वपूर्ण भारतीय मूल्य है। पत्नी के सिवा अन्य स्त्रियों के साथ माता के समान व्यवहार करना चाहिए। इस मूल्य का विकास करना समाज की संस्कृति के संवर्धन के लिए आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में परोंपकार का महत्वपूर्ण स्थान है परोपकार की भावना मनुष्य को पशु की कोटि से उपर उठाती है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में सदभावना प्रसार करती है। असल में परोपकार ही मानवता की पहली सीढ़ी है। संत गाडगे बाबा , राष्ट्रसंत तुकडो जी महाराज नामदेव महाराज जैसे परोंपकारी महाराजों के आदर्श हमारे सामने है, जिन्होंने निरपेक्ष भावना से 'दीनदुखी लोंगो के लिए अपना सर्वस्व समर्पित किया है।

परोपकार से मानसिक और आत्मिक शांति प्राप्त होती है। यानी कि निस्वार्थी परोपकार से बढ़कर कोई और बड़ा दूसरा नैतिक मूल्य नहीं है।

पुराने जमाने में भारतीय संस्कृति का ज्ञान कीर्तन, प्रवचन द्वारा होता था। अब यह ज्ञान हम बच्चों को किताबों द्वारा दे सकते है।

आज के बच्चें कल के देश का भविष्य होते है। उनके चरित्र का संवर्धन होने से समाज का चरित्र-संवर्धन होगा और आखिर राष्ट्र का चरित्र उज्ज्वल होगा।

हर युवक को अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देना चाहिए। वृद्ध माता-पिता को दुःख देने वाला बर्ताव कभी भी नहीं करना चाहिए और उसको किसी भी क्षेत्र में थोडा क्यों न हो, समाज सेवा एवं देश सेवा में व्यतीत करना चाहिए। इन चार बातों पर हर युवक ने यदि ध्यान दिया तो उसने भारतीय संस्कृति का पालन किया ऐसा हम निश्चित आपसे कह सकेंगे।

समीक्षा

शिक्षा–संघर्ष की ऐतिहासिक भूमि

कृति श्रीवास्तव

Bhattacharya, S. (Ed.). (1998). *The contested terrain: perspectives on education in India*. New Delhi: Orient Longman.

यह किताब भारतीय शिक्षा व्यवस्था और उसके अतीत के कई पन्नों को टटोलती है। कई पहलुओं और कई कोनों से इस व्यवस्था की विवेचना करती है. यह किताब इसलिए भी विशेष महत्त्व रखती है क्यूंकि ये उन प्रचलित अवधारणाओं को खंडित करने का प्रयास करती है जिनके अनुसार अंग्रेज़ी शासन ही भारत में शिक्षा के उदय का मूल माना जाता है। हालांकि इस बात का होना व मान लिया जाना दोनों ही पूर्णतः शंकित हैं। यह बात खुल कर धर्मपाल की पुस्तक, द ब्यूटीफुल ट्री (Dharampal, 1983)में भी कही गयी है, जहाँ उन्होंने अंग्रेज़ी दस्तावेज़ों को आधार बनाकर दर्शाया है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था अंग्रेज़ी शासन से पहले भी न केवल अस्तित्व में थी, अपितु कहीं अधिक समृद्ध थी।

यह एक संपादित किताब है जिसमें बीस लेखों को सम्मिलित किया गया है। ये सभी जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय में 19-20 मार्च 1997 में शिक्षा पर आयोजित एक सम्मलेन में प्रस्तुत किये गए थे। पुस्तक में जिन लेखकों को शामिल किया गया है वे सभी भिन्न पृष्ठभूमि से हैं, तथा अनुभवी व नए विचारकों का दिलचस्प मेल है। एक ओर जहाँ मझे हुए शिक्षाविद् हेतुकर झा तथा ऐ. सी. शुक्ला हैं, वहीँ दूसरी ओर उस समय के नए विचारक नीता कुमार तथा उमा गुप्ता के लेखों को भी शामिल किया गया है।

सम्पादकीय नोट के अनुसार यह सम्मलेन शिक्षा, व विभिन्न आयामों पर हो रहे शैक्षिक संघर्षों के प्रश्नों पर एक चिंतन था। 19वीं व 20वीं शताब्दी के ग्रामीण व शहरी व्यवस्था पर एक आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए, समाज के मध्यवर्ग के योगदान को समझने का प्रयास किया गया। हालांकि इस बात की समझ भी रही कि, कभी भी शिक्षा समाज के सभी वर्गों के लिए बराबर या सामान्य नहीं थी। हर बदलते समय में ऐसे लोग व वर्ग थे, जिन्होंने शिक्षा को सीमाबद्ध करने का प्रयास किया। परन्तु वहीँ हर दौर में ऐसे भी लोग रहे जिन्होंने स्वयं आगे बढ़कर शिक्षा को जनमानस तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया। यह किताब दोनों ही प्रकारों को उचित 'सम्मान' व 'स्थान' देती है।

किताब मूलतः पांच खण्डों में विभाजित है जो इस विषय के विभिन्न आयामों पर चर्चा करते हैं तथा संपूर्ण संवर्धन के लिए आवश्यक भी हैं।

पहला भाग (Concepts of National Education)राष्ट्रीय शिक्षा की संकल्पनाओं पर आधारित है व इसमें सम्मिलित पांच लेख, आगे के लेखों को समझने का आधार प्रदान करते है। . ये मूलतः उस समय शिक्षा के नाम पर हो रही परिचर्चाओं का अनुलोकन है। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं तथा अंग्रेज़ी शासन, दोनों के ही दृष्टिकोण व कार्यों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। अपर्णा बासु का लेख (National Education in Bengal 1905-1912)बंगाल में पनप रही स्थितियों की ओर ध्यान केन्द्रित करता है । बंगाल उस समय लगभग सभी राष्ट्रीय, राजनैतिक, व शैक्षिक आन्दोलनों का गढ़ था, परन्तु फिर भी युवा वर्ग में अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति ललक व उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। उसी समय राजनैतिक उठापटक ने स्कूली शिक्षा को अत्यंत संकुचित बना दिया तथा स्वदेशी शिक्षा के प्रचारकों के लिए अपने संस्थानों का अस्तित्व बचाना भी बहुत कठिन हो गया। लेख इन सभी विषयों का विश्लेषण करता है।

इसी खंड में नीता कुमार का एक रोचक लेख (Why does Nationalist Education Fail? The case of Banaras 1880s to the 1930s)स्वदेशी शिक्षा के पतन को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उदहारण से समझने का प्रयास करता है। लेख इन 'हिन्दू' विद्यालयों के पतन का कारण उनकी शिक्षा-पद्धतियों की ख़ामियों में तलाशता है। विद्यालयों में हिंदुत्व से सम्बंधित ज्ञान तथा रीतियों पर

अधिक ज़ोर था परन्तु इनके सीखने-सिखाने के तरीकों पर ध्यान नहीं दिया गया। वहाँ की शिक्षा जनमानस के दैनिक जीवन से कोसों दूर रही। इन सबके अतिरिक्त 'अंग्रेज़ियत' तथा संसाधन-हीनता से लगातार उनके संघर्ष पर भी ये लेख ध्यान केन्द्रित करता है।

दूसरा खंड (Continuity and Change in Popular Education) प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में रही निरंतरता व बदलाव की चर्चा करते हुए हित-समूहों के विवादों तथा मतभेदों को उजागर करता है। उदहारणतः सुमंता बनर्जी के अध्ययन (Education of the Labouring Poor in 19th Century Bengal: Two Experiments)में मध्यवर्ग के द्वारा शिक्षा व्यवस्था में लाये गए बदलावों तथा उनकी विफलताओं का गहराई से अवलोकन किया गया है। साथ ही, राष्ट्रवादी व स्वदेशी शैक्षिक आंदोलनों में क्षेत्रीय भाषाओँ की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर भी विमर्श किया गया है। बिहार तथा बंगाल को दृष्टांत करते हुए यह समझने का प्रयास किया गया है कि यह मसला केवल किसी एक भाषा का ना होकर, संपूर्ण जनमानस के अस्तित्व व स्वशासन का बन चुका था।

तीसरा खंड (Some Leading Educational Thinkers)भारत के प्रमुख शिक्षाविदों के कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। हालांकि पाठक की स्वाभाविक रूचि इनके विचारों को गहराई से समझने व उस समय की सामजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के अनुसार उनकी विवेचना में होगी, परन्तु यहाँ केवल उनका वर्णन भर दिया गया है। मौलाना आज़ाद, टैगोर, गाँधी तथा औरतों की सामजिक स्थिति पर चिंतन करने वाले पुरुष विचारकों (राममोहन रॉय, दयानंद सरस्वती इत्यादि) पर आधारित लेख इस खंड में सम्मिलित किये गए हैं। इनके विचारों की सार्थकता तथा सफलता पर भी कुछ रोशनी डाली गयी है।

खंड चार (Scientific and Technical Education) भारत के शिक्षित वर्ग द्वारा सुझाये गए वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा के विकास के तरीकों पर केन्द्रित है. इन्ही में से एक ज़कॉल्लाह भी हैं। इस वर्ग ने विज्ञान शिक्षण को बढ़ावा देने के लिए अनेक विदेशी किताबों का क्षेत्रीय भाषाओँ में अनुवाद किया तथा जनता तक इस ज्ञान को सरल भाषा में लेकर गए। इरफ़ान हबीब अपने लेख (Teaching Science through the Local Language: An Aborted Pedagogical Project) मेंऐसी कई किताबों की सूची प्रस्तुत करते हैं।

पांचवां तथा अंतिम खंड (Comparative Perspective)इस पूरी चर्चा को जापान तथा चीन के सन्दर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। किस प्रकार दोनों ही देश अपनी विचारधाराओं को विकसित करते हुए भी व्यक्तिगत विचारों को उचित सम्मान देने में सक्षम रहे।

इस संपादित किताब का मूल उद्देश्य भारतीय शिक्षा के इतिहास की संपूर्ण समझ को प्रस्तुत करना था और काफी हद तक यह ऐसा करने में सफल भी रही है। लगभग सभी लेख विवेचनात्मक तरीके से लिखे गए हैं तथा एकत्रित तथ्यों को तार्किक रूप से प्रयोग किया गया है। एक ख़ास बात ये भी है कि यहाँ मुद्दों पर चिंतन को केवल राष्ट्रीय स्तर तक ही सीमित नहीं किया गया है, अपितु बेहद क्षेत्रीय उदाहरणों को लेते हुए ज़मीनी वास्तविकताओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है।

परन्तु, संग्रह की बारीकियों में छिपी कुछ समस्याओं को भी चर्चा में लाना आवश्यक है। सबसे स्वाभाविक है, इसका केवल उत्तर व उत्तर-पूर्वी भारत पर केन्द्रित होना। सभी उदहारण, चाहे वे राष्ट्रीय हों या क्षेत्रीय, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल या अधिकतर बम्बई तक ही सीमित हैं। ये सभी वैसे भी ऐतिहासिक रूप से अध्ययन के केंद्र रहे हैं। यहाँ हुई राजनैतिक उठापटक व शिक्षा की उन आंदोलनों में भूमिका हमेशा से ही सम्मुख रही है। परन्तु स्पष्टतः, ये पूरे हिन्दुस्तान की परिस्थिति का ब्यौरा नहीं देती। दक्षिण, पश्चिम, तथा मध्य भारत में इस दौरान क्या चल रहा था इसकी कोई समझ इस किताब में नहीं मिलती।

कई बार एक ही विषय पर लिखे गए कई लेखों में हुए दोहराव को भी नज़रंदाज़ करना मुश्किल है। उदहारणतः नरेश भोक्ता (Marginalization of Popular Languages and Growth of Sectarian Education in Colonial India)तथा हेतुकर झा (Decline of Vernacular Education in Bihar in the Nineteenth Century),दोनों के ही लेख स्थानीय भाषाओं के पतन पर आधारित हैं और कई तर्क व तथ्यों की आवृत्ति हुई है।

वहीं कुछ लेख ऐसे भी हैं जो किसी एक परिप्रेक्ष्य की ओर झुके हुए लगते हैं। मिसाल के तौर पर बी. एम्. सान्खधेर के लेख (Gandhi and the National Education Movement) में गांधीवादी शिक्षा का मूल्यांकन केवल एकतरफा लगता है। हालांकि लेख

वर्त्तमान सन्दर्भ में लिखा गया है, परन्तु अमुख व्यवस्था की असफलताओं के कारणों का विवेचन नहीं किया गया है। उसी प्रकार से, मौलाना आज़ाद पर आधारित बी. एन. दत्ता का लेख (Maulana Azad's Perception of Muslim Education)आज़ाद की सक्षम प्रतिबद्धता, विचारों तथा नेतृत्व को अधूरे रूप से ही दर्शाता है। हालांकि उनके संघर्ष का कथानक रोचक ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है।

इस संग्रह की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये किसी भी तरह भारतीय शिक्षा व्यवस्था के अतीत अथवा वर्तमान को 'अच्छे' व 'बुरे' में परिभाषित करने का प्रयास नहीं करता। ये राष्ट्रवादी नेताओं की भूमिका को भी बारीकी से विश्लेषित करता है। प्रचलित धारणाओं के विपरीत इस विषय को भी उजागर किया गया है कि समाज का उच्च-मध्यवर्ग (अमरीक सिंह) तथा कई राष्ट्रवादी नेता भी कई मौकों पर शिक्षा के जन-जन तक पहुँचने के विरोध में थे। यह संग्रह आदिवासी तथा पिछड़े वर्ग की स्थिति पर भी रोशनी डालने का प्रयास करता है (सुमंता बनर्जी, तथा इरफ़ान हबीब). समग्रतः, यह किताब भिन्न परिप्रेक्ष्यों को चरितार्थ करने में सफल रही है, तथा भारत की स्वदेशी शिक्षा व्यवस्था पर एक अच्छी समझ बनाने में मददगार है। सभी लेखों का सामंजस्य भी प्रशंसनीय है।

वर्तमान स्थितियों में भी राजनीति व शिक्षा के गहरे संबंधों को समझने में यह संग्रह उपयोगी है। हर दौर में समाज में कुछ हित-समूह रहे हैं जो यथास्थिति बनाये रखने में प्रयासरत रहते हैं। वहीँ ऐसे भी समूह हैं जो सामाजिक परिवर्तन की ओर प्रतिबद्ध हैं।

यह संग्रह यह समझ भी बनाता है कि विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा जिस परिप्रेक्ष, संदर्श तथा दृष्टिकोण से बुनी जाती है, उसका गहरा असर युवा वर्ग व उनकी सोच पर पड़ता है। राष्ट्रवादी विद्यालयों तथा क्षेत्रीय भाषा शिक्षण के द्वारा दिए जाने वाले ज्ञान का उद्देश्य ही युवा वर्ग में राष्ट्रवाद की भावना का बिगुल बजाना था। वहीं दूसरी ओर अंग्रेज़ी शासन द्वारा दी जाने वाली शिक्षा को केवल अक्षर ज्ञान तथा व्यवहारिक ज्ञान तक ही सीमित रखा गया। वर्तमान में भी कई धार्मिक संगठन अपने विद्यालयों में बच्चों में एक ख़ास दृष्टिकोण को पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे(Sarkar, 1996; Sundar, 2004)।

देखा जाए, तो यह किताब एक गहरी छाप छोड़ती है और इस बात पर ज़ोर देती है कि शिक्षा हमेशा से ही एक हथियार की तरह इस्तेमाल हुई है। कई हित-समूहों ने इसे अपने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया है। विद्यार्थी तथा विद्यालय दोनों ही इतिहास में इतने 'लाचार' समझे गए हैं कि हर समूह इन्हें अपनी सोच से ढँक देना चाहता है, और कई बार इसमें सफल भी हुआ है। ये इतिहास भी रहा है और वर्तमान भी है।

साक्षात्कार

प्रस्तावित नई शिक्षा नीति से उच्चशिक्षा की अपेक्षाएं

ऋषभ कुमार मिश्र

आजकल शिक्षा के क्षेत्र में चर्चा का समसामयिक बिंदु प्रस्तावित नई शिक्षा नीति हैं। शिक्षा के हर हलके में चर्चा हो रही है कि नई शिक्षा नीति का उद्देश्य क्या होगा? प्रारूप क्या होगा? यह शिक्षा के विभिन्न स्तरों और ढाँचों में क्या बदलाव लाएगा आदि। इसी पृष्ठभूमि में **प्रो. गिरीश्वर मिश्र** (कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय) से ऋषभ कुमार मिश्र की यह बातचीत उच्चशिक्षा के सन्दर्भ में प्रस्तावित नई शिक्षा नीति की प्रासंगिकता को समझने में मददगार साबित होगी।

1. आपके अनुसार भारत में उच्चशिक्षा के वे कौन से पक्ष हैं जिन्हें प्रस्तावित नई शिक्षा नीति पर विचार करते हुए केन्द्र में रखा जाना चाहिए? और क्यों?

दुर्भाग्य से हमारे यहां प्रचलित शिक्षा के पाठ्यक्रम प्रायः पुराने ढर्रे के हैं और व्यवस्था की असुविधा के चलते एक यथास्थितिवादी बनी हुई है। इसके साथ ही अध्ययन की गुणवत्ता को सुनिश्चित करना जरूरी है जिसमें ज्ञानार्जन को सम्भावनाओं और सर्जनात्मक प्रक्रियाओं से जोड़ना जरूरी होगा। आज यह भी जरूरी है कि अध्ययन स्थानीय समस्याओं के प्रति संवेदनशील हो और वैश्विक परिदृश्य के प्रति खुलापन हो। इस हेतु अध्ययन में विविधता आनी चाहिए। उसमें प्रक्रियात्मक सुविधा को बढ़ाना होगा। इसके फलस्वरूप जीविका के अवसर की

वृद्धि भी होगी और सृजनात्मकता का अवसर भी प्राप्त होगा। आज की शिक्षा प्रायः उबाऊ और पुनरुत्पादक हो चली है जो प्रतिभा को भोथरी बनाने वाली है और अध्ययन को नपुंसक, उसमें ज्ञान की चुनौती और नया करने का आमन्त्रण लगभग अनुपस्थित है।

अतः उच्च शिक्षा के लिए सबसे आवश्यक सरोकार प्रासंगिकता की स्थापना का है। प्रासंगिकता से मेरा आशय शिक्षा की प्रक्रिया का व्यक्ति, विषय और संस्कृति इन सबके बीच संगति और तालमेल बैठाना। यह इसलिए केन्द्रीय रूप से विचारणीय है क्योंकि उच्च शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया अधिकांश में विदेशी ज्ञान को आदर्श, मानक और एक तरह से सार्वभौमिक और देश काल से निरपेक्ष ज्ञान मान कर की जाती रही है जो सही नहीं है। इसका फल यह हुआ कि हम अपनी अवधारणाओं से विलग होते गए और उनके प्रति मन में संशय का भाव पैदा हो गया। समाज का स्वरूप भी बदला है, जरूरतें बदली हैं। इन सबके ही साथ बदलाव आया है ज्ञान विज्ञान की अवधारणा में, वह व्यापक, संस्कृति सापेक्ष और समावेशी हुई है। उसके वर्तमान विमर्श में सांस्कृतिक विविधता को महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। इन परिवर्तनों के प्रसंग में उच्च शिक्षा पर गंभीरता से पुनर्विचार आवश्यक है।

2. प्रस्तावित नई शिक्षा नीति के लिए उच्च शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों को किस प्रकार से परिभाषित किया जाना चाहिए?

आज शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह समावेशी नहीं है और समाज का एक बड़ा हिस्सा अभी भी शिक्षा के दायरे से बाहर छूट जाता है। इसका कारण शिक्षा का कमजोर वर्ग की पहुँच से बाहर हो जाता है। यह जाहिर है कि आज प्राइमरी से उच्च शिक्षा तक शिक्षा संस्थानों के भी आर्थिक ग्रेड हैं और उनमें जगह मिलना कठिन है। इस तरह एक सामाजिक–आर्थिक खाई बनती जा रही है। सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों की हालात में बड़ा फर्क है। यही नहीं केन्द्रीय और राज्य के विश्वविद्यालयों की शैक्षिक और आर्थिक स्थिति में जमीन आसमान का फर्क है। राज्य के विश्वविद्यालय संसाधनों के अभाव में प्रायः निर्जीव होते जा रहे हैं। इस विषमता का समय रहते इलाज आवश्यक है।

दूसरी जरूरत यह है कि शिक्षा अनुभवाश्रित और सर्जनात्मक न होकर अनुकरणमूलक हो चली है। इसके कारण यथार्थ का बोध नहीं हो पाता है। हमारी आवश्यकता है कि उसका ऐसा एक प्रतिभागी (पारटीसिपेटीव) स्वरूप उभरे जिसमें छात्र, अध्यापक और व्यापक समाज परस्पर जुड सकें और उस जुड़ाव में निरंतरता बनी रहे। यह आज की परिस्थितियों में बेहद महत्वपूर्ण हो गया है। आज जगह-जगह समाज भ्रम, पूर्वाग्रह और भेद-भाव से हुए गहरे घावों से जूझ रहा है। हिंसा और घृणा बढ़ रही है अतः केवल अकादमिक प्रगति को स्थापित करना और व्यवसायी (प्रोफेशनल) दृष्टि का विकास होना ही पर्याप्त नहीं होगा यह सब किसके लिए होगा, यदि समाज ही नहीं रहेगा? अतः यह भी आवश्यक होगा कि समाज में वर्ग, जेंडर तथा आयु के प्रति भी छात्र संवेदनशील बने और समता और समन्वयमूलक समाज की अवधारणा को अपना सकें। यह बात पुरानी है पर उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि शिक्षा का मूल्यों की स्थापना और चरित्र के निर्माण से भी गहरा रिश्ता होना चाहिए। शिक्षा ऐसी हो जिससे हमें समाज को अपनाने, उसे 'ओन' करने की इच्छा जगे। शिक्षा के परिवेश में इन सरोकारों को वास्तविक अर्थों में जगह मिलनी चाहिए। साथ ही शिक्षा बासी न पड़ जाय इसलिए उसे ज्ञान के नए-नए क्षेत्रों और आयामों की ओर भी अग्रसर होना चाहिए। बिना प्रयोग और परिष्कार के बदलाव नहीं आ सकता।

3. आपने अभी उच्च शिक्षा के जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों की बात की वे उच्च शिक्षा की वर्तमान संरचना और व्यवस्था में किस प्रकार के बदलाव की मांग करते हैं?

उच्च शिक्षा में बदलाव चिर प्रतीक्षित है इसके लिए कई मोर्चों पर कई तरह की पहल करनी होगी। इस पर विस्तार से चर्चा अपेक्षित है। यहां पर संक्षेप में कहें तो इस दिशा में विचार के प्रमुख विन्दु होंगे : अध्यापक – प्रशिक्षण, संसाधनों की उपलब्धता, गुणवत्ता का आश्वासन, अध्यापकों और छात्रों में दायित्व बोध जगाना, शैक्षिक व्यवस्था की स्वायत्तता स्थापित करना, संस्थाओं या व्यवस्थाओं की उपलब्धता या पहुंच को बढ़ाना, व्यवस्थाओं का लचीला बनाना सबसे महत्वपूर्ण हैं। ध्यातव्य है कि इस दिशा में आने वाले बदलाव परस्पर सम्बन्धित हैं। आज नियम कानून की गिरफ्त में बहुत से नवाचार हो ही नहीं पाते। कहा गया था 'सा विद्या या विमुक्ते' पर आज खुद विद्या ही मुक्त नहीं है फिर उससे मनुष्य की मुक्ति का आश्वासन कैसे मिलेगा?आज की आवश्यकता है शिक्षा को दुराग्रहों और बाधाओं से मुक्त किया जाये और उसकी गुणवत्ता को सुनिश्चित किया जाये। उच्चशिक्षा को सर्वजनसुलभ माध्यम का सवाल भी महत्वपूर्ण है। अध्ययन-अध्यापन के लिए हिन्दी सहित भारतीय भाषाओं को स्थान दिया जाना चाहिए।

रिपोर्टिंग

संदीप कुमार, गोविंद, विलास चुनारकर

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में 28-30 मार्च 2015 के दौरान दो राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। पहली संगोष्ठी का आयोजन शिक्षा विभाग द्वारा किया गया था। जिसका विषय **"शिक्षण सीखने और जानने की दृष्टियों में बदलाव"** था। दूसरी संगोष्ठी का आयोजन मनोविज्ञान विभाग द्वारा किया गया था जिसका विषय **"आधुनिक जीवन में मूल्य संकट समाज वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य और हस्तक्षेप"** था। ये दोनो ही संगोष्ठी भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (ICSSR) द्वारा प्रायोजित थी। पहली संगोष्ठी की केंद्रीय विषय वस्तु सीखने जानने और शिक्षण की दृष्टियों में बदलाव थी। इस विषय की प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि आधुनिक शिक्षक ज्ञान को वस्तु की भाँति स्थानांतरित करके संतुष्ट नहीं है बल्कि वह विद्यार्थी को स्व-प्रेरित अधिगमकर्ता के रूप में तैयार करना चाहता है शिक्षकों ,शोधकर्ताओं और शिक्षण से जुड़े अन्य अभिकर्ताओं के लिए इस केंद्रीय विचार के सैद्धांतिक आधार, शिक्षण शास्त्रीय निहितार्थ और अभ्यास के विभिन्न पक्षों से परिचित कराने के लिए इस संगोष्ठी ने मौका दिया।इसी प्रकार दूसरे संगोष्ठी के विभिन्न प्रस्तुतीकरणों में यह चर्चा की गई कि किस प्रकार से आधुनिक समय में मूल्य जीवन के लिए अपरिहार्य है। इसके अंतर्गत यह भी विचार किया गया कि समाज वैज्ञानिक मूल्यों के प्रति क्या दृष्टि रखते है ?

प्रो. वी.के.त्रिपाठी निदेशक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद ने इन संगोष्ठियों का उद्घाटन किया। डॉ. त्रिपाठी ने अपने उदबोधन में प्रस्तावित किया कि यह भी विचार करना आवश्यक है कि नीतिगत स्तर पर शिक्षणशास्त्र और मूल्यों के संबंध को कैसे देखा गया है। इसी संबंध में उन्होने NCERT द्वारा उठाए गए कदमों की भी चर्चा की। प्रो. भारती बावेजा, निदेशक महिला अध्ययन एवं विकास केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय ने बीज वक्तव्य दिया। इस वक्तव्य में आपने सीखने जानने और शिक्षण की विभिन्न दृष्टियों पर चर्चा की। यह भी बताया कि यह दृष्टियाँ किस प्रकार से हमारे दिन-प्रतिदिन के निर्णयों को प्रभावित करती है। उन्होंने इस तथ्य को उभारते हुये कहा कि उच्च शिक्षा के द्वारा हमें विद्यार्थियों को प्रचलित धारणाओं पर प्रश्न करना सीखाना चाहिए। प्रो. आनंद प्रकाश अधिष्ठाता अंतरराष्ट्रीय सम्बन्ध,दिल्ली विश्वविद्यालय ने दूसरा बीज वक्तव्य दिया। इनके विचार का सार यह था कि मानव स्वभावत: चुनौतियों की स्थिति में विकल्प की तलाश करता है। ये विकल्प मूल्य तटस्थ न होकर मूल्य निरपेक्ष होते है। प्रो. गिरीश्वर मिश्र कुलपति महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने अपने अध्यक्षीय संबोधन में कहा कि शिक्षा एक मूल्य गर्भित प्रक्रिया है। यह केवल हमें भौतिक प्रगति का माध्यम मात्र नहीं बनाती बल्कि यह खुद को, समाज को और वृहद अर्थ में मानवता को समझने के लिए तैयार करती है। एक अन्य बीज वक्तव्य प्रो. लीलावती कृष्णन,आई.आई.टी. कानपुर द्वारा दिया गया। इन्होंने बताया कि सीखना और मूल्य साथ–साथ चलते है। अपनी इस स्थापना के लिए इन्होंने भारतीय दार्शनिकों – गाँधी, अरबिन्द, विवेकानंद का संदर्भ लिया।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के केंद्रीय विषय से संबन्धित विभिन्न प्रस्तुतीकारण छ: सत्रों में हुये। प्रथम सत्र-शिक्षण के ज्ञानमीमांसीय और शिक्षणशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पर आधारित था। इस सत्र की चर्चा इस सहमति के साथ समाप्त हुयी कि शिक्षणशास्त्र के नवाचारों से संबन्धित सैद्धांतिक चर्चा के बजाय अभ्यास के प्रारूपों को विकसित करने पर ज़ोर देना चाहिए। अगला सत्र समावेशी शिक्षा और निर्माणवादी शिक्षाशास्त्र पर आधारित था। इस सत्र की चर्चा समावेशन के बदलते अर्थ नीति और अभ्यास पर केन्द्रित थी। तीसरा सत्र भाषा शिक्षण के आयामो से संबन्धित था। इसमें बहुभाषिकता और भाषा शिक्षण की चुनौतियों जैसे विषय पर चर्चा की गई। चौथा सत्र तकनीकी और सूचना प्रोद्योगिकी के शिक्षा में हस्तक्षेप पर आधारित था। इसमें तकनीकी और शिक्षाशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों से जुड़े विभिन्न प्रारूपों पर चर्चा की गई। पांचवाँ सत्र शिक्षण में नवाचार से संबन्धित था इसमें नई तालीम के आधुनिक संदर्भों में प्रासंगिकता पर चर्चा की गई।

इसी क्रम में दूसरे संगोष्ठी के अंतर्गत मूल्य और विचारधारा, वर्तमान समय में मूल्य संकट: सामजिक वैज्ञानिक परिपेक्ष्य तथा हस्तक्षेप और दैनिक जीवन, मूल्य और पर्यावरण, मूल्य और सामाजिक संस्थाएं जैसे विषयों पर चर्चा की गई। मूल्य की अवधारणा, विभिन्न विचारवाद स्कूल, संविधान तथा समाज-सांस्कृतिक वर्ग से लिया गया है, इस पर भी चर्चा हुई | निजी, सामाजिक, नैतिक व राजनैतिक मूल्य संकट के विभिन्न आयामों पर प्रस्तुत शोध पत्रों पर चर्चा की गई | कुछ प्रस्तुतियां वातावरण एवं नैतिकता पर आधारित था | प्रस्तुतकर्तागण, वातावरण संरक्षण तथा निर्विघ्न विकास एवं उपरोक्त हेतु क्या हस्तक्षेप हो सकते है इस पर अपने विचार व्यक्त किए | मूल्य निर्माण हेतु परिवार, विद्यालय, समुदाय तथा संचार की भूमिका पर भी चर्चा हुई |

इन संगोष्ठियों के दौरान दो चर्चा सत्रों का आयोजन किया गया | प्रथम सत्र का विषय 'मानवता की निरंतरता: मूल्यों का पोषण' था | इस दौरान डेसमंड टू टू और दलाई लामा का एक संवाद प्रस्तुत किया गया एवं उस पर चर्चा हुई | दूसरे चर्चा सत्र का को शोध विद्यार्थियों के साथ आयोजित किया गया | इसमें शोध विद्यार्थियों ने अपने-अपने शोध समस्याओं की चर्चा विशेषज्ञो की | इस सत्र के विशेषज्ञ गण, प्रो. लीलावती कृष्णन, आई.आई.टी. कानपुर, प्रो.अरविन्द कुमार मिश्रा, जे.एन.यू., प्रो. बाल कृष्ण उपाध्याय, आई. आई. एफ. एम. भोपाल थे | इस सत्र में सम्बंधित साहित्य का अध्ययन, शोध समस्या की संरचना, शोध पत्रों का अवलोकन आदि विषयों पर भी चर्चा की गई |संगोष्ठी के अंत में चर्चित विचारों को भविष्य के सन्दर्भ तथा कार्य हेतु समेकित किया गया | इसमें शिक्षणशास्त्र तथा मूल्य संकट से सम्बंधित मुद्दों को सम्मिलित किया गया |

लेखक/लेखिका	संपर्क सूत्र
प्रो गिरीश्वर मिश्र	कुलपति,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा, ई-मेल-misragirishwar@gmail.com
संदीप कुमार	सहायकप्रोफेसर,केन्द्रीयशिक्षासंस्थान,शिक्षासंकायदिल्ली-विश्वविद्यालय, ई-मेल-sandy1502@gmail.com
अरुण प्रताप सिंह	सहायकप्रोफेसर, मनोविज्ञानविभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा, ई-मेल-jyotiarun13@gmail.com
सुश्री संध्या	सहायकप्रोफेसर,मिरांडाहाउस, ई-मेल-samparksandhya@gmail.com
सुप्रिया पाठक	सहायक प्रोफेसर, स्त्री-अध्ययन विभागम.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-supriya_rajj@yahoo.co.in
श्रीमती नेहा गोस्वामी	शोधछात्राकेन्द्रीयशिक्षासंस्थान,शिक्षासंकायदिल्ली-विश्वविद्यालय, ई-मेल-nehagoswami003@gmail.com
पंकज उपाध्याय	शोधछात्र, मानवशास्त्रविभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-pankajhj07@gmail.com
चित्रलेखा अंशु	शोध छात्रा, स्त्री अध्ययन विभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-chitra.anshu4@gmail.com
मेघा	शोधछात्राकेन्द्रीयशिक्षासंस्थान,शिक्षासंकायदिल्ली-विश्वविद्यालय ई-मेल-meghha7@gmail.com
धर्मेंद्र शंभरकर	सहायकप्रोफेसर, शिक्षाविभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-dharmeshshambharkar@gmail.com
कृति श्रीवास्तव	शिक्षासलाहकार, क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केंद्र ई-मेल-kriti1988@gmail.com
ऋषभ कुमार मिश्र	सहायकप्रोफेसर, शिक्षाविभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-rishabhrkm@gmail.com
संदीप कुमार	एम.ए.छात्र,शिक्षाविभाग,म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-ई-मेल-sk7417280871@gmail.com
गोविंद	एम.ए.छात्र, बौद्ध अध्ययन विभाग, म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-rajarwalg@gmail.com
विलास चुनारकर	एम.ए.छात्र, फ्यूजी गुरूजी अध्ययन केंद्र विभाग, म.गा.अं.हि.वि.विश्वविद्यालय-वर्धा ई-मेल-vilaschunarkar123@gmail.com

अगला अंक........

संवर्धन के अगले अंक के लिए शोध लेख, विचारात्मक लेख, पुस्तक समीक्षा, शिक्षाविदों से साक्षात्कार, शिक्षा से संबन्धित लेखों का अनुवाद आमंत्रित है। प्रकाशन सामग्री को **rishabhrkm@gmail.com** पर भेजें। लेख मंगल या कोकिला फॉन्ट मे 14 के आकार के होने चाहिए।